सिद्धयोग

जुलाई १९९०

वर्ष २३

अंक ४

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
मवाई
आमला

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जौलाई
१९९०

इस अंक में पढ़िये—

★ सर्वे देवास हृषिका विदेम (प्रार्थना) ... १
★ योगी की नींद (विशेष लेख) ... २
—योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमौलि जी महाराज
★ रमता जोगी—बहता पानी —श्री दिव्य ... ४
★ [illegible] का योग ... ५
—वैद्य रामधन शर्मा शास्त्री
★ योग-सिद्धियों पर स्वामी दयानन्द ... ७
—डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार
★ विचार-कण ... ८
—आचार्य विनोबा
★ परम धर्म योग ... ११
—अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्दजी [illegible]
★ कल्याण-पथ (कविता) ... १६
—श्री भोले बाबा
★ व्यवहार माधुर्य ... १७
—श्री देवनारायण भारद्वाज
★ आश्चर्यजनक सत्य ... २०
—श्री केशवजी उपाध्याय
★ श्री रामलालजी महाराज की दिव्य जीवन-गाथा ... २४
—श्री श्यामलाल खन्ना 'श्याम'
★ स्कन्ध चालन की प्रक्रिया ... २८
—श्री गुरुदेवजी द्वारा
★ आँख-मिचौनी ... ३२
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास
★ दिव्यता की अभिव्यक्ति ... ३८
—विमला ठकार
★ समता का आदर्श ... ३६
—श्री अरविन्द
★ गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय ... ४१
—सुश्री रुक्मिणी देवी

वार्षिक मूल्य ४० रुपया। इस अंक का ५ रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २३ अङ्क ४	ध्याय ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	जौलाई १९९०

कस्मै देवाय हविषा विधेम

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

यजु० अ० २५। मं० १३

अर्थात्

जो आत्मज्ञान का दाता, शरीर, आत्मा और समाज के बल का देने हारा, जिसकी सब विद्वान लोग उपासना करते हैं और जिसका प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, जिसका आश्रय ही मोक्षसुखदायक है, जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस सुखस्वरूप सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिए आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसीकी आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें।

विशेष लेख :-

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

卐

योगी की नींद को योग-दर्शन में योग-निद्रा के नाम से इङ्गित किया गया है। किस प्रकार सर्व-साधारण की रात योगी का दिन और सर्व-साधारण का दिन योगी की रात होती है उसी प्रकार सर्व-साधारण की नींद से योगी की नींद अपनी अलग विशेषता रखती है, इसी विशेषता को समझाने का सुप्रयास किया है श्री सद्गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में। निजी अनुभव और विश्वास के आधार पर योगाचार्यों की यह मान्यता रही है कि योगी निद्रा को अपने वशवर्ती करके उसे भी समाधि प्राप्ति का अवलम्बन बना लिया करते हैं।

—सं० सं०

योगी की नींद

योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने जहां पर क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का वर्णन किया है वहां पर निद्रा को भी उन्होंने एक वृत्ति बतलाया है। वे लिखते हैं:—

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्ति निद्रा।

—योग० द० १/१०

अर्थात्—अभाव के कारण का अवलम्ब लेने वाली निद्रा नाम की भी एक वृत्ति है। इसी सूत्र पर अपना भाष्य लिखते हुये श्री व्यासदेव महाराज ने कहा है—

सा च संप्रबोधेप्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः। कथं सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदी करोति, दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्, गाढं मूढोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तमलसमुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति।

अर्थात्—अभाव प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाली वृत्ति निद्रा है। यह निद्रा वृत्ति भी एक अनुभूति विशेष है। मनुष्य जब सोकर उठता है तो उसके मन में एक विशेष प्रकार का ज्ञान रहता है और वह ज्ञान इस प्रकार प्रकट होता है सोकर उठने वाला व्यक्ति कहता है 'अरे! आज तो मैं बहुत सुखपूर्वक सोया, मेरा मन बहुत ही प्रसन्न है, मेरी बुद्धि आज खिली हुई है।' इसके अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति कहता है कि 'अरे! आज तो मैं बड़ा ही कष्टपूर्वक सोया मेरा मन घिरा हुआ सा है और अब भी चक्कर जैसे आ रहे हैं।' इसके अतिरिक्त तीसरा व्यक्ति कहता है 'अरे! आज तो मैं बड़ा गाढ़-मूढ़ भाव में सोया रहा। मेरा शरीर बहुत भारी-भारी है। बड़ा आलस्य सा आया हुआ है।' यह ऐसे तीन प्रकार के अनुभव सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान व्यक्तियों को होते रहते हैं। इसलिए जागने पर जो एक विशेष प्रकार का ज्ञान होता है और उस ज्ञान में सोते समय की अनुभूति प्रधान रहती है, इसलिए निद्रा भी एक वृत्ति है। योगी जिस प्रकार

पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी अब नहीं रहे !

उनका यशस्वी जीवन हमें मार्ग-दर्शन देता रहेगा

श्री सिद्धगुफा सवांई आश्रम और देशदेशान्तर में उसकी बहुसंख्यक शाखा-
उपशाखाओं से सम्बन्धित सभी योग-प्रेमी गुरु भाई-बहनों को यह जानकर
हार्दिक और अविस्मरणीय वेदना होगी कि हमारे व उनके परमपूज्य श्रद्धास्पद
योग-योगेश्वर अनन्तश्री गुरुदेव भगवान् प्रातः स्मरणीय और क्षण-क्षण वन्दनीय
परम आराध्य **श्री चन्द्रमोहनजी महाराज** अपने पाञ्चभौतिक शरीर से
अब इस दृश्यमान जगत में नहीं रहे !

ऋषीकेश योगसाधन आश्रम, के महोत्सव की सम्पन्नता के उपरान्त वे
दिल्ली स्थित सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र आर० के० पुरम में अपने अन्तःवासी
प्रिय शिष्यों जिनमें तपोमूर्ति बहन उमा शर्मा, बालाजी, दासलाल शर्मा, वेदराम
आदि उल्लेखनीय हैं के साथ प्रवास कर रहे थे। हमें यहाँ से उन्होंने एक पत्र
द्वारा यह सूचित करने की कृपा की थी कि हम आगामी ३ या ४ जोलाई
१९८०, तक सवांई आश्रम, पहुँच रहे हैं। हमें उन्होंने इसी पत्र में यह आदेश
भी दिया था कि पत्रिका समय से कुछ पूर्व ही आश्रम पहुँचा देना। हम उनके
आदेशानुसार २६ जून को पत्रिका को आश्रम पहुँचा देने की तैयारी में व्यस्त
थे कि अचानक आगरा जनपद करफ्यूग्रस्त हो गया। कैसे किस-प्रकार पत्रिका
आश्रम पहुँचाई जाय, इसी ऊहापोह में हम पड़े हुए थे कि २७ जून के प्रातः-
कालीन स्थानीय दैनिक पत्रोंमें यह वेदनाजन्य समाचार पढ़कर हम स्तम्भित
और किंकर्त्तव्यविमूढ़ से होकर रह गये कि दि० २५-२६ जून १९८० की रात
में क्षणिक-सी उदर-वेदना, उन्हें सदा-सर्वदा के लिए हम सबसे स्थायी रूप में
अलग कर देने का कारण बन गई ! योगविधि से गुरुदेवजी महाराज अपने
भौतिक शरीर का परित्याग करके उस अमरलोक के वासी हो गये जिसे शास्त्रों
में दिव्यलोक की संज्ञा दी गई है या जिसे महाप्रभु का परमधाम बताया गया
है तथा जहाँ जाकर पुण्यआत्माओं का पुनरावर्तन नहीं होता !

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम्।' यही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के शब्दों में
उनका अपना धाम है। सिद्धयोगी इसी धाम को पा लिया करते हैं।

पूज्यपाद श्रद्धेय गुरुदेवजी का विशुद्ध कर्मठ और निर्मल आदर्श जीवन सूर्य के समान
जाग्रत और जगमग रहकर हमें सदा योगमार्ग पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा
हमारा सबका यह परम पावन कर्त्तव्य हो जाता है कि गुरुदेव भगवान सिद्धयोग के जि
प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ने की हमें प्रेरणा देते रहते थे उस पर मनसा वाचा कर्मणा हम स
एक होकर योजनाबद्ध अनुशासित शिष्य के रूप में बड़ी शालीनता और गम्भीरता के स
एक जुट होकर आगे बढ़ते रहें। ऐसा करना ही उनकी अनुपम अलौकिक आत्मा के प्र
श्रद्धांजलि होगी।

शोकाकुल आपका
—सं० सम्पा

से समाधि में अन्यान्य वृत्तियों पर नियन्त्रण करता है। उसी प्रकार निद्रा-वृत्ति पर भी नियन्त्रण करना उसे आवश्यक है।

अब रही यह बात कि योगी की नींद कैसी होनी चाहिये ? इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी महाराज ने प्रथम सतोगुण, दूसरा रजोगुण और तीसरा तमोगुण इनमें से जिस व्यक्ति के मन में जिस गुण की भी प्रधानता होती है उसके अनुसार ही उसकी निद्रा का भी रूपक बदल जाया करता है। योगाभ्यासी साधक अपने मन में रहने वाले रजोगुण और तमोगुण को अपने अभ्यास के बल से जब बिल्कुल नष्ट कर डालता है और उसके मन में विशुद्ध रूप से जब सतोगुण चमक उठता है तब ऐसी स्थिति में उस योगी की निद्रा वृत्ति भी अंधकार पूर्ण न रह कर ज्ञानमयी बन जाया करती है। कोई भी योगी संसार में विविध प्रकार के कार्य करते हुए जब अपने मन में किसी भी प्रकार की थकावट अनुभव करता है, तो वह निद्रा वृत्ति का अवलम्ब लेकर के सोने का अभिनय करता है योगी सो रहा है अतीव आनन्ददायक नींद में, पर वह देखता यह है कि वह एक अनुपम प्रकाश में लीन है और ऐसे विशुद्ध प्रकाश में वह बहुत बड़ी शान्ति का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति के लिए ही श्री कबीर जी ने यह दोहा कहा है—

सोना तो सबसे भला,
जो कोई जाने सोय।
अन्तर लव लागी रहे,
सहज हि सुमिरन होय ।।

ऐसे ज्ञानमय क्षेत्र में लीन होकर के योगी निद्रा वृत्ति का अवलम्ब लेता हुआ भी पूर्ण सुख और शान्ति का अनुभव करता है। यही कारण है कि भगवान पतञ्जलिदेव ने 'स्वप्न-निद्राज्ञानावलम्बनम् वा' यह सूत्र कह करके स्वप्न ज्ञान का अवलम्ब लेकर के भी समाधि प्राप्ति के उपायों में निद्रा ज्ञान को एक खास उपाय बताया है। अत: योगी साधक को चाहिये कि पहले योग के अन्यान्य साधनों द्वारा अपने मन को सतोगुणी बना ले। जिस योगी का मन स्वाध्याय करने से या तपश्चर्या करने से सतोगुणात्मक बन जायगा तो उसकी निद्रावृत्ति भी समाधि की जननी बन जायेगी। ऐसा योगी शवासन में लेट करके निद्रा ग्रहण करे। जो बात कबीर जी ने उपरोक्त दोहे में कहा है कि—

सोना तो सब से भला,
जो कोई जाने सोय।
अन्तर लव लागी रहे,
सहज हि सुमिरन होय ।।

यह उक्ति अवश्य चरितार्थ हो जायेगी। शवासन में सोने से सुषुम्ना की स्वाभाविक गति होती है और योगी ने यदि अपने मन के अन्दर सतोगुण को बसा लिया है तो शवासन में सोने से सुषुम्ना और सुषुम्ना के अन्तर्गत स्वाभाविक रूप से ब्रह्म नाड़ी की जागृति हो जाती है, जिससे योगी की वह नींद, नींद न रह समाधि का रूप धारण कर लेती है। कोई भी योग्य साधक जो किसी योग्य गुरु से उपरोक्त विषय को समझ करके निद्राज्ञान की ओर बढ़ेगा वह अवश्य ही समाधि द्वार तक पहुंच जायेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

रमता जोगी — बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित वानी ।
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी' !

सतत चलनशील बनी रहने वाली छोटी-बड़ी नदियाँ प्रति वर्ष ही अपने तटों पर अनायास या सप्रयास आ उगे वृक्षों को चाहे वे विशालकाय हैं या लघुकाय सभी को जड़-मूल से उखाड़ कर अपने प्रवाह में बहा ले जाकर समुद्र को समर्पित कर देने के क्रम में किसी प्रकार का अन्तराय पैदा नहीं होने देतीं ।

× × ×

समुद्र का धरातल इन सभी नदियों द्वारा लाये गए छोटे-बड़े वृक्षों से बुरी तरह पट गया था, फिर भी समुद्र के राजा वरुण को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि समुद्र के धरातल में समाई वृक्ष राशि में बेंत का कोई एक टुकड़ा भी कहीं दिखलाई नहीं दे रहा है, जबकि नदी किनारे बेंत के बहुत से झुरमुट भी बिना किसी प्रयास के ही आ उगते हैं ।

अपनी इस जिज्ञासा का समाधान वरुणदेव ने नदियों से ही ले लेना उचित समझकर उन्होंने नदियों में सबसे बड़ी पावनतम भगवती भागीरथी से ही एक दिन पूछा—देवि तुम ही इन सब नदियों में अतिशय पावन और ऐश्वर्यशाली हो, इसलिए तुम से ही मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम और तुम्हारी ये सभी शाखा-प्रशाखा विविध नाम्नी नदियाँ प्रतिवर्ष बड़े-बड़े विशालकाय वृक्षों के समूहों को तो अपने वेगमें बहाकर यहाँ ले आती हैं पर बेंतों के झुरमुट में से एक को भी क्यों नहीं लातीं ?

× × ×

भागीरथी ने जवाब दिया—सुनो वरुण देव ? वृक्षराशि अपने अहंकार और कठोरता के गुणों से गर्वित होकर सदैव अकड़कर खड़े रहना जानते हैं इसलिए सभी नदियों का प्रबल प्रवाह उनके अहंकार दोष का नाश करने के लिए उन्हें उखाड़कर बहा लाने की प्रक्रिया में लगा रहता है, प्रतिकूल इसके बेंतों का एक पौधा भी ये इसलिए उखाड़कर अपने प्रवाह में ले आने में असमर्थ रहती हैं कि बेंत समय की गति को पहचानकर उनके प्रवाह की विकरालता को जानकर विनम्रता का आश्रय लेकर झुकजाने की कला को जानता है । यही कारण है कि नदियां बेंत-राशि का एक अंश भी अपने प्रवाह के वेग से उखाड़कर यहाँ तक ले आने में असमर्थ रहती हैं ।

बेंत की विनम्रता और अपने बड़ों के आगे झुक जाने की शालीनता का यही सन्देश वरुणदेव ने संसार को देते हुए अपना समाधान पा लिया कि जो अभिवादनशील होते हैं वे ही आयु, विद्या और ऐश्वर्य के भागी बनते हैं । ● श्री दिव्य

कर्मफल का भोग

● वैद्य रामधन शर्मा शास्त्री

कर्म तीन प्रकारके हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अब तक के जो कर्म संगृहीत हैं, उनका नाम संचित है। वे अनन्त हैं और उनमें नये-नये कर्म भी जाकर एकत्रित होते रहते हैं। इन संचित कर्मोंमें से कुछ कर्मफल प्रदान करानेके लिए पृथक कर लिये जाते हैं और किसी एक जीवनमें इनका निश्चित फल भोग प्रारम्भ हो जाता है। इन फल देनेमें प्रवृत्त हुए कर्मों का नाम ही प्रारब्ध है, एवं हम जो नवीन कर्म कररहे हैं, उनको क्रियमाण कर्म कहते हैं। ये तुरन्त संचित में चले जाते हैं। मनुष्य जो कुछ भी अच्छे-बुरे कर्म करता है, वे भी संचित में चले जाते हैं। इन नए कर्मों में कुछ कर्म ऐसे भी प्रबल हो सकते हैं, जो संचित से तुरन्त प्रारब्ध बनकर फल भुगता देते हैं। कई बार यह भी होता है कि वर्तमान कर्म किसी पुराने प्रारब्ध का फल भुगताने में निमित्त बन जाता है। अच्छे-बुरे कर्मों का फल तीन प्रकार से भोगा जाता है—

१—तुरन्त प्रारब्ध बनकर इसी जीवन में अनुकूल या प्रतिकूल भोग के रूपमें भोगा जाता है, कुछ संचित में मिल जाते हैं।

२—स्वर्ग और नरक लोकोंमें सुख-दुःख भोग रूप में भोगा जाता है।

३—अच्छी-बुरी योनियों में सुख-दुःख रूप भोगों में भोगा जाता है। स्वर्ग-नरक लोक भी सत्य हैं। सभी शास्त्रोंमें इनका वर्णन है। सर्वमान्य गीता में स्पष्ट कहा गया है :

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोक,
मश्नन्ति दिव्यानदिविदेव भोगान्।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्,
क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥

वे अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोग भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में चले जाते हैं।

नरकेऽनियतं वासो भवीत्यनुशुश्रुम।
(गीता १/४४)

उनको अनियत काल तक नरक में निवास करना पड़ता है।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।

वे विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त लोग अपवित्र नरकों में गिरते हैं। पुराणोंमें नरकों का वर्णन और नरक यन्त्रणा भोगने वाले प्राणियों के बहुत प्रसंग आते हैं, जो सत्य हैं।

इसी प्रकार अच्छी-बुरी योनियों में भी कर्मफल भोग होता है, पुण्यकर्म करने वालों को अच्छी योनि मिलती है। पाप-कर्म करने वालों को बुरी योनि। इसका वर्णन छान्दोग्योपनिषद में आया है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मण-योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं

वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

(छांदोग्योपनिषद् ५/१०/७)

उन जीवों में अच्छे आचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही श्रेष्ठ योनि को प्राप्त होते हैं और जो बुरे आचरण वाले होते हैं, वे तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं, वे कुत्ते की योनि, शूकर-योनि या चाण्डाल योनियों को प्राप्त होते हैं। गीतामें कहा है-

तानहं द्विषत:,
क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभाना-
सुरीष्वेव योनिषु ॥

(गीता १६/१६)

उन द्वेष करने वाले पापाचारों, निर्दय, नीच मनुष्योंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना,
मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।

(गीता १६/२०)

वे मूढ़ जन्म-जन्म में आसुरी योनि में प्राप्त होते हैं।

प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के उत्तम लोकों को प्राप्त होकर और बहुत काल तक वहाँ निवास करके फिर पवित्र श्रीमानों के घर जन्म लेते हैं।

अथवा

योगिनामेव, कुले भवति धीमताम्।

अर्थात् बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म लेता है।

इससे स्वर्ग, नरकादि लोकोंमें तथा उत्तम निकृष्ट योनियों में सुख-दु:ख का भोग होना सिद्ध है।

मनुष्य योनि उत्तम है और पशु आदि योनियाँ निकृष्ट हैं, परन्तु उत्तम योनि में भी बुरे कर्म के फलस्वरूप जीव दु:ख प्राप्त कर सकता है। जैसे सर्वथा रोगी तथा नितान्त दरिद्र मनुष्य, और निकृष्ट योनि में भी अच्छे कर्म के फलस्वरूप सुख प्राप्त कर सकता है। जैसे राज-घराने का घोड़ा, सच्चे गौ-पूजक की गाय, शौकीन बाबुओं द्वारा पाला हुआ कुत्ता आदि।

उपर्युक्त तीनों कर्मों में प्रारब्ध का भोग तो अवश्य भोगना पड़ता है, परन्तु सच्चे भाव भगवान के भक्त का मान लेने पर या ज्ञान के द्वारा भोक्तृत्व बुद्धि मिट जाने पर सुख-दु:ख नहीं होते, संचित का नाश हो जाता है।

यह भक्ति से और निष्काम कर्मसे हो सकता है और क्रियमाण का अभाव भी ज्ञानके द्वारा कर्तृत्व बुद्धि न रहने पर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान की आज्ञा के रूप में कर्म करने पर, अथवा कर्मों में सकाम भाव न रहने पर हो सकता है। कर्मों का सर्वथा अभाव ही जीव की मुक्ति है।

योग-सिद्धियों पर स्वामी दयानन्द

● डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

योग के चमत्कारों, योग की विभूतियों अथवा योग की सिद्धियों के विषय में परम योगी महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के क्या विचार थे। इस सम्बन्धमें आर्य विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। यहाँ वस्तु-स्थिति स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी के विचार उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किये जा रहे हैं।

बाबू माधोप्रसाद को लिखे एक पत्र में स्वामी जी लिखते हैं—"देखो, पूर्वकाल में ऋषि-मुनियों को कैसी पदार्थ-विद्या आती थी कि जिससे आत्माके बलसे सबके अन्तःकरण के भेद को शीघ्र ही जान लिया करते थे। जैसे वाहर की पदार्थ-विद्या से सिद्ध किये हुए रेल, तारादि विद्या को मूर्ख लोग जादू समझते हैं, वैसे ही भीतर के पदार्थों के योग से योगी लोग अनेक अद्भुत कर्म कर सकते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग जितनी विद्या वाहर के पदार्थों से सिद्ध करते हैं, उससे कई गुनी अधिक भीतर के पदार्थों से सिद्ध कर सकते हैं।"[1]

बम्बई में दिए गये प्रवचन में स्वामी जी ने कहा था—"भीतर के पदार्थ बहुत महान और गुप्त हैं और इस स्थूल जगत में जो गुण और चमत्कार देखनेमें आते हैं, उससे करोड़ों गुने गुण और चमत्कार भीतर विद्यमान हैं। वाहर के चमत्कार इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं, परन्तु मनुष्य स्थिर होकर शोध करे तो उससे बहुत अधिक चमत्कार भीतर के उसे देखने में आयेंगे।"[2]

यजुर्वेद १७/६७ के भाष्य में स्वामीजी ने आकाश-गमन की सिद्धि का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहम्

अन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।

दिवो नाकस्य पृष्ठात्,

स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

पदार्थ—हे मनुष्यो! जैसे किये हुए योग के अंगों के अनुष्ठान और संयम से सिद्ध अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि में परिपूर्ण (अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथ्वी के बीच (अन्तरिक्षम्) आकाश को (उद् आ अरुहम्) उठ जाऊँ, वा (अन्तरिक्षात्) आकाश से (दिवम्) प्रकाशमान सूर्यलोक को (आवरुहम्) चढ़ जाऊँ, वा (नाकस्य) सुख कराने हारे (दिवः) प्रकाशमान उस सूर्यलोक के (पृष्ठात्) समीप से (स्वः) अत्यन्त सुख और (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाश को (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त होऊँ, वैसा तुम भी आचरण करो।

भावार्थ—जब मनुष्य अपनी आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है। उसके पीछे

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भगवद्दत्त, सन् १९५५, पृ० १४४-४५।

२. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९८८, पृष्ठ ५१७/१८।

कहीसे न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं।

यजुर्वेद के इसी अध्याय के ७१वें मन्त्र के भाष्य में योगी अनेक प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होकर उनकी नेत्रादि इन्द्रियोंसे देखने आदि व्यापारों को कर सकता है, ऐसा वर्णन है। इस मन्त्र के भाष्य के भावार्थ का कुछ अंश इस प्रकार है—

"योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम) के बल को प्राप्त हो अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक सिर, नेत्र आदि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है।"

यजुर्वेद १९/९१ के भाष्य के भावार्थ में लिखा है कि—"निवृत्ति मार्ग में परम योगी योगबल से सब सिद्धियों को प्राप्त होता है।" १९/७४के भाष्यसे स्वामीजी का यह अभिप्राय भी विदित होता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए योगी को योग-सिद्धियां पाकर भी उनके अभिमान को छोड़ देना चाहिए उक्त मन्त्र के भावार्थ के शब्द इस प्रकार हैं—"जो युक्ताहार विहार करने वाले वेदों को पढ़, योगाभ्यास करे, अविद्या क्लेशों को छुड़ा, योग सिद्धियों को प्राप्त हो और उनके अभिमान का भी छोड़ के कैवल्य को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं।"

अणिमा आदि सिद्धियों को स्वामी जी मानस मानते हैं, ऐसा पूनाप्रवचन के प्रवचन संख्या ११ से ज्ञात होता है। उन्होंने अपने भाषण में कहा था—"योगी विभूति को सिद्ध करता है ऐसा योग-शास्त्र में लिखा है। अणिमा, लघिमा, गरिमा इत्यादि विभूतियाँ हैं। ये धर्म योगी के चित्त में पैदा होते हैं। सांसारिक लोग "ये योगी के शरीर में पैदा होते हैं" ऐसा मानते हैं। वह बराबर नहीं है, अणिमा अर्थात् अति सूक्ष्म पदार्थों से भी मन सूक्ष्म होकर पदार्थों का परिमाण करता है। इसी प्रकार अति स्थूल पदार्थों से भी बड़ा होकर उसका ज्ञान मनसे होता है उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनका सामर्थ्य नहीं है।"[1]

उपरिलिखित योगसिद्धि विषयक स्वामी के विचारों की तुलना पाठकों को भी स्वामी के साथ हुई। कर्नल आल्काट एवं मैडम ब्लैवेट्स्की की वार्ता में वर्णित स्वामीजी के योग सम्बन्धी विचारों के साथ भी करनी चाहिए। उस वार्तासे ज्ञात होता है कि स्वामी जी मानते थे कि पतंजलि ने जिन योग-विभूतियों का वर्णन किया है, वे सब योगी द्वारा प्राप्त की जा सकती है। योगी दूर स्थित अपने योगी भ्राताओं से विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है, दूसरे के भावों को जान सकता है, बिना ही बाह्य साधनों के रेल्वे के इंजन से भी अधिक तीव्र गति के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति कर सकता है, पानी पर चल सकता है। धरती के आधार को छोड़कर हवा में रह सकता है, अपनी आत्मा को अपने शरीर से पृथक् कर थोड़ी अवधि के लिए या अनेक वर्षों तक अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके रह सकता है, अपनी आयु को चार सौ वर्ष तक बढ़ा सकता है।[2]

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पृ० ३६५।

२. वेदवाणी पत्रिका के जनवरी १९८६ के दयानन्द विशेषांक में स्वामी दयानन्द और योग शीर्षक से प्रकाशित कर्नल आल्काट की पुस्तक का डा० भवानीलाल भारतीय द्वारा अनूदित अंश।

विचार-कण

● आचार्य विनोबा

'विशेष' का उपयोग

भगवान् ने इतने मनुष्य निर्माण किये हैं, लेकिन एक का चेहरा दूसरे से नहीं मिलता। ऐसे कुछ थोड़े लोग होते हैं, उनको मराठी में 'तीत ये' कहते हैं, उनमें थोड़ा-सा फर्क होता है। कभी-कभी हाथ के जो प्रिण्ट्स होते हैं, उन पर से भी वे पहचानते हैं। वैसे स्वभाव में और अनुभव में भी फर्क होता है। यह एक शिक्षण का विषय है। गृह-शिक्षण, पुस्तकों का शिक्षण और लोक-शिक्षण। मुख्यतया शिक्षण के तीन विभाग होते हैं—स्वभाव, अनुभव और शिक्षण। इन तीनों से मनुष्य बनता है। विविधता हरएक की अपनी-अपनी होगी। हरएक मनुष्य अपने में स्वयं पूर्ण है, परमेश्वर की प्रतिमा है। हर मनुष्य की अपनी कुछ चीज होती है, जिसे 'विशेष' ही नाम दिया गया है। हमारे यहाँ एक दार्शनिक हो गये हैं, जो 'वैशेषिक' दर्शनकार कहलाते हैं। पूछा गया कि घड़ी में जितने गुण और धर्म हैं, उतने सबके सब हटा दिये जायँ, तो शेष क्या रहेगा? जैसे बौद्ध विचारकों ने कहा : "शेष शून्य रहेगा।" वेदान्तने कहा : "सब गुण और धर्म हटायेंगे, तो शेष ब्रह्म रहेगा।" 'वैशेषिक' दर्शनवालों ने कहा : "सब गुण और सब धर्म हटाने पर भी उनका एक 'विशेष' रूप रहेगा, जिसके कारण वह घड़ी और धर्म है।" पेन्सिल का अपना एक विशेष गुण है और घड़ी के भी अपने विशेष गुण हैं। 'पटे पटत्व घटे घटत्वं' पट है तो पट है, घट है तो घट है। यह 'त्व' क्या है? कई गुण दोनों के समान हैं, वे सब हटा दें तो फिर क्या बचेगा? आखिर में क्या रहेगा? हर चीज में अपनी विशेषता है। वह रहेगी। इसलिए वह 'विशेष' एक स्वतन्त्र पदार्थ है। उसकी गिनती न गुण में होती है, न धर्म में, न द्रव्य में।

दार्शनिक इस प्रकार से सोचते हैं। मैं इतना गहरा नहीं जाना चाहता। इतना ही कहना चाहता हूँ कि हरएक में अपना-अपना विशेष होता है। उस विशेष कारण से ही उसके जीवन का अपना स्वतन्त्र मूल्य होता है। हर एक के जीवन का एक सामूहिक मूल्य होता है और एक स्वतन्त्र मूल्य। वह स्वतन्त्र मूल्य कभी क्षीण नहीं होता। वह 'विशेष' है।

हरएक का अपना-अपना विशेष है। वे कभी-कभी एक-दूसरे को चुभते हैं। लेकिन मुझे नहीं चुभते। वे मुझे प्रिय मालूम होते हैं। मिर्च की अपनी रुचि अलग होती है, की अपनी रुचि होती है। शहद की मिठास मिर्च में दाखिल हो जाय, तो वह मिर्च नहीं रहेगी। बाइबिल में कहा है : नमक अगर अपना स्वाद छोड़ दे, तो किस काम का? मेरी बात ऐसी है कि चुभने वाले गुण मुझे बहुत प्रिय होते हैं। वे गुण चुभें नहीं और लाभकारी भी हों, ऐसी युक्ति हम निकाल सकते हैं। मिर्च का भी अपना उपयोग है। उसका उपयुक्त जगह पर उपयोग कर लिया

जाय, तो लाभदायी हो सकता है। उपयोग करना नहीं आता, तो फिर वे चुभ सकते हैं।

समाज के सन्दर्भ में सोचें

हम जो भी बनना चाहते हैं, समाज के लिए बनाना चाहते हैं। समाज से अलग रहकर हमें कोई सिद्धि प्राप्त करनी है, यह वासना छोड़नी चाहिए। वह वासना सधनेवाली नहीं है। बचपन से हम समाज का उपकार लेते हैं, आज भी ले रहे हैं, तो हमें समाज के सन्दर्भ में ही सोचना चाहिए। कुछ लोग सोचते हैं कि दस-बीस साल तक समाज से अलग रहकर सिद्धि प्राप्त करके फिर हम समाज की सेवा करेंगे, उनके इस विचार को मैं ठीक नहीं समझता। वैसे एक-दो महीने के लिए हम अलग रह सकते हैं, जैसे कोई बीमार हवा-फेरी के लिए कहीं जाता है और आराम करता है। दस-बीस साल में कोई निष्पत्ति होती है, ऐसा समाज का अनुभव नहीं है।

जीवन में त्रिविध सम्पर्क

जीवन में तीन प्रकार का सम्पर्क होता है। एक होता है साथियों के साथ, जिसे हम अन्योन्य सम्पर्क नाम दे सकते हैं, दूसरा होता है व्यापक समाज के साथ और तीसरा सृष्टि के साथ। इन त्रिविध सम्पर्कों का समावेश आन्तरिक दृष्टि से ईश्वर के साथ होता है। इसलिए उनका अलग नाम नहीं लेते हैं। उसमें तीनों आते हैं। उसका एक अलग नाम लेने से चौथा हिस्सा हो जायगा, इसलिए उसकी हम इसके साथ गिनती नहीं करते।

द्विविध सृष्टि-सम्पर्क

सृष्टि-सम्पर्क दो प्रकार का होता है : सेवाजन्य और ध्यानजन्य। सेवा दो रूप से होती है : एक प्रत्यक्ष सेवा, जिसमें उत्पादन बढ़ाने इत्यादि के काम होते हैं, दूसरा है स्वच्छता रखना। परमेश्वर ने सृष्टि जितनी रमणीय निर्माण की, उससे कम रमणीय न हो। हो सकता है कि कभी अधिक ही रमणीय हम उसे करें, तो ये दोनों मिलकर एक अंग हो गए। दूसरा होता है ध्यान। आसपास की ही सृष्टि, जिसमें पहाड़-पेड़ हैं और नदियाँ भी शामिल हैं, हमारे लिए ध्यान का विषय है। इनका ध्यान हो सकता है। अनेक गुणों का ध्यान करने के लिए उसका उपयोग होता है। यही है विभूति-चिन्तन। उसके चिन्तन से, ध्यान से चित्त को अनेक गुणों का स्पर्श होता है। इन सबकी तरफ ध्यान की दृष्टि से देखना चाहिए। ऐसे ध्यान की जिसको आदत होती है, उसे सृष्टि में प्रभु-दर्शन होता है।

अन्योन्य सम्पर्क

अन्योन्य सम्पर्क भी अनेक प्रकार का होता है। एक है अन्तर अनुराग और विश्वास। सबके लिए पूर्णतया विश्वास। साथियों में एक-दूसरे के लिए पूरा विश्वास। इस विश्वास से ही आन्तरिक सम्बन्ध बनता है। बाह्य सम्बन्ध आता है, एक-दूसरे की सेवा करने में। सेवा की जरूरत पड़ती है, तब सम्बन्ध आता है। दूसरा सम्बन्ध आता है कि एक अपना समूह है और वह समूह मिलकर कोई एक सम्मिलित काम करता है कोई प्रोजेक्ट चाहे वह घर का हो चाहे समाज का, लेकिन सब मिलकर एक सामूहिक काम करते हों, उनमें अन्योन्य सम्पर्क आता है। इस तरह से अन्योन्य सेवा और सामूहिक काम मिलकर बाह्य सम्पर्क होता है।

परम धर्म—योग

● अनन्त श्री स्वामी अखंडानन्द सरस्वती

आसन और प्राणायाम

रजोगुण विक्षेप-रूप है। उसकी प्रधानता से क्रियायें होती हैं, विक्रिया भी होती है। अविद्या के कारण देहमें मैं-मेरा होता है और तद्‌गत क्रियाशक्ति प्राण में भी मैं-मेरा होता है। इसीसे शरीरमें श्वासप्रश्वास, रक्तसंचार, पाचन, मलापसरण, केशवृद्धि, आंगिक परिवर्तन और तो क्या क्रिया-विक्रिया सबकी सब होती रहती है। प्राणायाम की साधना इन क्रिया-विक्रियाओं की प्रक्रिया को ठप्प कर देती है, केवल श्वासक्रियामात्र शेष रहती है। समष्टिगत क्रिया ही व्यष्टि की क्रिया हो जाती है। समष्टि क्रियामें व्यष्टि क्रिया की समाधि ही प्राणायाम की सिद्धि है, इससे देह में स्वाभाविक बल का विकास और दीर्घ जीवन का प्रकाश भी आ जाता है। प्रारम्भ में आसन-प्राणायाम दोनों के अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु समाधि के लिए उपयोगी एक ही आसन और एक ही प्राणायाम होता है। हिलते हुए या सोते हुए शारीरिक आसन योग के लिए उपयोगी नहीं हैं। पहले में विक्षेप है और दूसरे में लय। अतएव जैसे समाधि के लिए बैठे हुए शरीर का आसन उपकारक है वैसे ही विविध प्राणायामों में कुम्भक-प्रधान प्राणायाम ही योगके लिए उपयोगी होता है।

योगाङ्गों में प्रत्याहार

इन्द्रिय एवं विषयों का सन्निकर्ष ध्यानात्मक ही होता है। आसन से द्रव्य-शक्ति, प्राणायाम से क्रिया-शक्ति एवं प्रत्याहार से विविध ज्ञानात्मक इन्द्रियशक्ति को समाधिस्थ किया जाता है। इन्द्रिय एवं विषय दोनों की शक्ति सीमित होती है। वे अपने-अपने मंडल में परस्पर मिलते रहते हैं। वे कितनी दूरी तक, कितनी देर तक और किस प्रकार स्वयं में मिलते-बिछुड़ते हैं, यह उनकी शक्ति पर अवलम्बित है। वस्तुत: सारी सृष्टि का चित्त तत्व एक है। इन्द्रियों की उपाधि से भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करने-वाली इन्द्रिय-शक्तियाँ चित्त सत्व की वृत्ति हैं। जैसे जल बहने के समय तरङ्गायित होता है स्थिरता के समय शान्त होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा सत्वात्मक ज्ञानशक्ति भी पृथक्-पृथक् विषयों को ग्रहण करते समय वृत्ति-रूप से विक्षिप्त होती है और विषयों का ग्रहण न करने पर अपने गोलकमें शान्त हो जाती है। इन्द्रिय-वृत्तियों का अपने-अपने विषयों का आहार न करके अपने-अपने गोलक में स्थिर हो जाना ही प्रत्याहार है। ऐन्द्रियक ज्ञान-वृत्तियों की समाधि ही प्रत्याहार का मुख्य रूप है, इससे विषयों के आकर्षण, प्रलोभन एवं तज्जन्य प्रतिबन्ध को निवृत्त करनेमें पूरी सहायता मिलती है। अतएव योग के अंगों में आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार द्रव्यसमाधि क्रियासमाधि तथा ऐन्द्रियक वृत्ति-समाधि के द्वारा चित्त-निरोध में पूर्णत: उपयोगी हैं।

इन्हींके द्वारा शरीर कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रियों का वशीकरण सम्पन्न होता है। निरोध का अर्थ मारण नहीं होता, स्वायत्तीकरण होता है। इन तीनों में इतना अन्तर अवश्य है कि आसन और प्राणायाम तो बिना वैराग्य के केवल अभ्यास से किये जा सकते हैं, परन्तु प्रत्याहार अपनी स्थिरता के लिए वैराग्य की अपेक्षा रखता है। यम-नियम में धर्म, आसन प्राणायाम में अभ्यास और प्रत्याहार की स्थिरता में वैराग्य हेतु है। अपने लक्ष्य को बारम्बार स्पर्श करना अभ्यास है। लक्ष्य के विरोधीको उपेक्षा कर देना वैराग्य है। लक्ष्य के विरोधी के प्रति भी स्पर्धा, द्वेष, क्रोध या ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए।

धारणा, ध्यान, समाधि और इनका विज्ञान

इन पाँच साधनों के बाद इनकी अपेक्षा तीन अन्तरंग साधनों का प्रारम्भ होता है; उनका नाम है धारणा, ध्यान और समाधि। इस बात पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है कि न्याय वैशेषिक एवं पूर्व-मीमांसा में द्रव्य रूप से स्वीकृत देश-काल योगाभ्यास में कहाँ लुप्त हो जाते हैं। देश तथा काल योग-सिद्धान्त में पदार्थ ही नहीं है। वृत्ति के संकोच विस्तार का नाम 'देश' है और उदय-विलय के क्रम का नाम 'काल' है। ये न प्रकृति है, न विकृति है, न उभयात्मक हैं। वृत्ति-निरोध से इनका निरोध सम्पन्न हो जाता है। जैसे पंचभूतों में कल्पित आकृतियों अर्थात् कायभासों को वस्तु समझना अविवेक है। वैसे ही व्यष्टि-समष्टि काल को वृत्ति से पृथक् मान बैठना अविवेक ही है। धारणा के द्वारा देशाकार-वृत्ति का मुख्य रूप से संकोच किया जाता है और ध्यान के द्वारा प्रधानतया कालाकार वृत्ति का संकोच किया जाता है। वृत्ति के संकोचन से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण ही पूर्वोक्त तीन साधनों से ये दोनों अन्तरङ्ग हैं।

पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊर्ध्व-अधः, अन्तर्बहिररूप वृत्तियाँ ही दिशाओं के आकार में फैली हुई मालूम पड़ती हैं। देश के किसी एक आकार में वृत्ति को बांध दीजिये—मूलाधार या सहस्रार, दिव्य देश वैकुण्ठ, या आध्यात्मिक हृदय-देश-इनमें से कहीं भी एक हृदय देश में वृत्तियों को बांध दीजिये-द्विभुज, चतुर्भुज आदि मूर्तियों में भी लम्बाई चौड़ाई होती है, शालिग्राम शिला में भी गोलाई होती है। उनमें कहीं भी वृत्ति को ऐसा स्थिर कर लेना चाहिए कि दूसरा स्थान स्फुरित न हो। इसको यहाँ से भी शुरू कर सकते हैं कि हम अपनी मनोवृत्तियों को मकान, कमरे या शरीर के घेरे से बाहर नहीं जाने देंगे। फिर शरीरगत किसी चक्र में वृत्ति को तदाकार कर दीजिये। धीरे-धीरे देश की कल्पना सूक्ष्म होकर लुप्त हो जायगी और वृत्ति का स्थानान्तरण नहीं होगा। वस्तुतः वृत्ति का स्थानान्तरण नहीं होना चाहिये। स्थानाकार कल्पना ही नानारूप धारण करती है। न वृत्ति देश में रहती है, न विदेश जाती है। वृत्ति ही तत्तत्-रूप से परिणत होती रहती है। जब वृत्ति अणु देश में स्थित होती है तब देश का विस्तार लुप्त हो जाता है और केवल वृत्ति ही रहती है। यह देश कल्पना-विनिर्मुक्त वृत्ति परिणामरूप देश के आश्रय से, संकोच-विस्तार से मुक्ति पा लेती है और चित्त सत्व से एकता अर्थात् समाधि की योग्यता प्राप्त कर लेती है। समाधि और समाधान का अर्थ एक ही है। सम्यक् आधान का अर्थ है वृत्ति का अपने

चित्त-सत्वरूप कारणद्रव्य से अभिन्न होकर स्थित होना।

वृत्तियाँ क्रम अथवा अक्रम से उदय-विलय को प्राप्त होती रहती हैं। उदय एवं शान्ति का क्रम तो रहता ही है। क्रम की संख्या ही वृत्ति का कालाकार परिणमन दिखाती है। भूत, भविष्य, वर्तमान सब वृत्ति में ही है, न प्रकृति में, न पञ्चभूत में। द्रष्टा से तो इनका सम्बन्ध कल्पितरूप से भी नहीं हो सकता। वस्तुतः काल वृत्ति-रूप ही है। वृत्तियों की लयदशा में काल सम्वित् नहीं रहती। जबतक सम्वित् है वृत्ति और काल को पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता। जब वृत्ति पुनः पुनः एक ही लक्ष्य की ओर प्रवाहित होने लगती है, एक ही लक्ष्य के सम्बन्ध में ताना-बाना फैलाने लगती है तो धीरे-धीरे वृत्ति की गाढ़ता होने पर काल अणु होता जाता है और उसके साथ ही वृत्ति भी अणु होती जाती है। अणु दशा में जाकर काल अपने अस्तित्व की कल्पना खो देता है और वृत्ति कालाकार परिणाम को छोड़कर लक्ष्याकार हो जाती है। फिर काल का बोध नहीं रहता वृत्ति क्रम से हो, अक्रम से हो, प्रतिलोम-क्रम से हो, कैसे भी क्यों न हो, उसमें क्षणकाल जान पड़ता है। ध्यान की पराकाष्ठा में उसी काल कल्पना का लोप हो जाता है। इस समाधि अथवा समाधान दशा में लक्ष्य ही ही फुरता है, वह काल नहीं। इसलिये ध्यान समाधि का अव्यवहित पूर्ववर्ती साक्षात् साधन है।

समाधि-विज्ञान

यही कारण है कि आत्मा अथवा ब्रह्म देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। यह सिद्ध करने के लिए योग-साधना में आवश्यकता ही नहीं होती। वृत्तियों का निरोध अथवा समाधि होने पर देश, काल और विविध कार्य वस्तुएँ भासती ही नहीं। चित्तवृत्तियां एक अखण्ड चित्-सत्व से एक हो जाती हैं और उसका द्रष्टा समग्र चित्-सत्व का विभु द्रष्टा होता है दूसरा पुरुष है, कोई ईश्वर है, प्रकृति प्राकृत है, यह सब वृत्ति-विलास है। वृत्ति जब चित्-सत्व में लीन हो जाती है तब द्रष्टा किसी का द्रष्टा नहीं दृङ्मात्र ही रहता है। इसी को 'कैवल्य' कहते हैं।

वृत्ति का चित्-सत्व में शान्त होना समाधि है। इसके दो विभाग हैं, विवेक-ख्याति के पूर्व और उसके पश्चात्। पहलीका नाम सम्प्रज्ञात-समाधि और दूसरी का नाम असम्प्रज्ञात-समाधि है। इनमें विवेक-ख्याति ही विभाजक रेखा है। प्राकृत-प्रपञ्च का स्वाभाविक उदय-विलय पुरुष के कैवल्य का हेतु नहीं है। अभ्यासजन्य समाधि से कैवल्य होता है। अतः समाधि-स्थिति-लाभ करने के लिए प्रयत्न आवश्यक है।

चित्-सत्व का साम्योन्मुख या वैषम्योन्मुख स्पन्दन ही वृत्ति है। साम्य में आकार सम होते हैं और वैषम्य में विषम। 'वर्तनं वृत्तिः'—व्यावृत होने का नाम वृत्ति है। योग-दर्शन में इन्हें पाँच प्रकार का माना गया है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। ये अविद्या आदि पञ्चक्लेशों से युक्त भी होती हैं और वियुक्त भी। इनका रूप चाहे कुछ भी क्यों न हो निरोध करने योग्य ही है। लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक सभी प्रकार की वृत्तियाँ निरोध कोटि में ही आती हैं। धर्मानुष्ठान, भगवद्भक्ति, श्रवण-मनन-निदिध्यासन इनमें से किसी को योगी लोग निरोध्य से बाहर नहीं मानते। जब प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमारूप समग्र व्यवहार ही वृत्तिरूप है और उसका निरोध

करना है तब दूसरी वृत्तियों की तो महत्ता ही क्या क्या है। यह एक अलग दर्शन है। भक्ति-दर्शन और वेदान्त-दर्शन इस प्रकार के समाधियोग को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भक्ति और ब्रह्मविद्या दोनों ही वृत्तिरूप हैं और उन्हें निरोध कर देने के बाद भगवदाकारता की प्राप्ति और अविद्या की निवृत्ति के लिए कोई साधन ही नहीं रह जाता। इसीका नाम शास्त्रों में प्रस्थान भेद है। अस्तु !

स्थूल-आलम्बन से वृत्तियों का निरोध, सूक्ष्म आलम्बन से वृत्तियों का निरोध, आनन्दालम्बन से वृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञात-समाधि के ये चार प्रकार हैं। इनके तीन विभाग और होते हैं—ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता में समापत्ति। समाधि काल में ज्ञान, शब्द एवं अर्थका भेद मिट जाता है। योग-सिद्धान्त में ज्ञान भी प्रकृति का ही परिणाम है। इसलिये 'घट' शब्द, 'घट' अर्थ और 'घट' ज्ञान की एकता होने पर प्राकृत ज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय का भेद नहीं रहता। परन्तु अप्राकृत चित-शक्ति ज्ञानस्वरूप ज्यों-की-त्यों रहती है। यही प्राकृत ज्ञान और शुद्ध ज्ञान का पृथक्करण हो जाता है, इसे विवेक-ख्याति कहते हैं। समाधि काल में प्रशान्त-भाव से संस्कार प्रवाहित होते रहते हैं। जब द्रष्टा के सम्मुख त्रिपुटी अर्थमात्र भासती है, तब सबीज-समाधि है। जब उसका भी निरोध हो जाता है और निर्बीज-समाधि सिद्ध हो जाती है।

सिद्धान्त-वैलक्षण्य

योग-सिद्धान्त की यह विलक्षणता है कि यहाँ पुरुष कर्ता नहीं है। प्रकृति ही कर्त्री है। वह स्वाभाविक रूप से परिणाम को प्राप्त होती है और बुद्धिपूर्वक करती है। होना और करना प्रकृति के दोनों ही रूप हैं। निद्रा स्वतः होती है और समाधि बुद्धिपूर्वक की जाती है। बुद्धि जब वृत्तियों को बहिर्मुखता की ओर तीव्र संवेग से धक्का दे देती है, तब वे कर्तृत्व के बिना ही अपने लक्ष्य से जाकर मिल जाती हैं अर्थात् पुरुष के सम्मुख चित्त-सत्व से एक होकर स्थिर हो जाती है। समाधि की साधना में बुद्धि का कर्तृत्व काम करता है, परन्तु विवेक-ख्याति हो जाने पर वह निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार बहिर्मुख परिणाम के द्वारा प्रकृति ही पुरुष को भोग देती है और अन्तर्मुख परिणाम के द्वारा अपवर्ग देती है। पुरुष असंग-उदासीन है, वह अपने कैवल्य में स्थित है, उसमें न भोग है, न अपवर्ग है। योग-दृष्टि से कृतार्थ पुरुष के प्रति प्रपंच नहीं रहता, परन्तु प्रपंच एक प्राकृत सत्य है। वह दूसरे अकृतार्थ पुरुषों के प्रति ज्यों का त्यों बना रहता है। जो वृत्ति-निरोध करके अपने स्वरूप में स्थित हो जायगा, वह मुक्त है।

योग-विभूतियाँ

योगानुष्ठान के साथ विभूतियों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब वृत्तियाँ परिच्छिन्न देह का तादात्म्य छोड़कर परिपूर्ण चित्-सत्व से एक होने लगती हैं तो उसके पूर्ण ज्ञान, शक्ति का सम्बन्ध वृत्तियों से भी होने लगता है। इससे अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियों का प्रकाश होना सम्भव है। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, परिचित-ज्ञान, परकाया-प्रवेश—ये सब क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। जब वृत्तियां चित्-सत्व में डूबकर निकलती हैं तो कुछ न कुछ ले आती हैं। ये विभूतियाँ समाधि, विवेक-ख्याति एवं पुरुष की स्वरूप-स्थिति के प्रति विघ्न हैं। यदि योगाभ्यास करते-

करते कोई सिद्धि आ भी जाये तो मौन के द्वारा अर्थात् उसे गुप्त रखकर दबा देना चाहिए। सिद्धियों के प्रति आकर्षण या प्रदर्शन या ख्याति का भाव होने पर यौगिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

योग और धर्म

धर्म और योग—दोनों ही पुरुष-प्रयत्न-साध्य हैं। अतएव अपौरुषेय श्रुति के द्वारा इनका उपदेश होने पर भी यह त्वं-पदार्थ-प्रधान जीव के धर्म ही हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में इन्हें अन्तरंग और बहिरंग के नाम से कहा गया है। अनुष्ठान-प्रवण-बुद्धि के द्वारा धर्म होता है, शान्ति-प्रवण-बुद्धि के द्वारा योग। सिद्धि-लाभ तक इन दोनों का समुच्चय नहीं चल सकता। सबके लिए इनका विकल्प भी योग्य नहीं है। अतः अधिकार-भेद से ही इसकी व्यवस्था करनी चाहिए। जिसकी प्रवणता (झुकाव या रुझान) कर्म की ओर है, उसके लिए धर्म का विधान है और जिसका झुकाव शान्ति एवं समाधि की ओर है, उसके लिए योगाभ्यास का। धर्म करण-शुद्धि का प्रधान साधन है और योग कर्ता की शुद्धि का। अतएव दोनों वेदोक्त त्वं-पदार्थ के शोधन में सहायक हैं।

—: वचनामृत :—

- मनुष्य को चाहिए कि वह शुभ, परहितकारी एवं पवित्र वचन बोले।
- बल का अहंकार, तपस्या का अहंकार, धन इत्यादि का अहंकार मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है।
- चिन्ताओं, नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों से सांसारिक प्राणी दुःखी रहते हैं; परन्तु भगवत्कृपा से ये एक क्षण में ही मिट जाते हैं। अतः उन्हीं की शरण में जाना चाहिये।
- जिस वस्तु को दान कर दिया जाता है, संकल्प कर दिया जाता है, उसे घर में न रखे। उसे छूना भी नहीं चाहिए। यह नहीं कि धर्मादे के धनको ब्याज पर लगाकर फिर उसमें से दान-दक्षिणा इत्यादि दे। इससे पाप लगता है।
- संसार में मनुष्य वही है जिसके कुछ नियम हों। बिना नियम के जो जीवन-यापन करते हैं, उन्हें मनुष्य नहीं कहा जा सकता।
- भगवान ने जितनी भी योनियां बनाई हैं, उनमें कुछ न कुछ विशेषता—विलक्षणता रखी है; अतः किसी भी प्राणी का अपमान नहीं करना चाहिए।

—स्वामी श्री शंकराचार्य

कल्याण पथ

● श्री भोले बाबा ●

ममता अहंता वायु का झोंका न जब तक जायगा।
विज्ञान दीपक चित्त में तेरे नहीं जुड़ पायगा ॥
श्रुति सन्त का उपदेश तब तक बुद्धि में नहिं आयगा।
नहिं शांति होगी लेश भी नहिं तत्त्व समझा जायगा ॥

सिद्धान्त सच्चा है यही जगदीश ही कर्तार है।
सब का नियन्ता है वही ब्रह्माण्ड का आधार है ॥
विश्वेश की मर्जी बिना नहिं कार्य कोई चल सके।
ना सूर्य ही है तप सके, नहि चन्द्र ही है हल सके ॥

कुछ भी नहीं मैं कर सकूं, करता सभी विश्वेश है।
ऐसी समझ उत्तम महा, सच्चा यही आदेश है ॥
'पूरा करूंगा कार्य यह, वह कार्य मैंने है करा।'
पूरा यही अज्ञान है, अभिमान यह ही है बुरा ॥

यदि शांति अविचल चाहता, यदि इष्ट निज कल्याण है।
संशय रहित सच जान तेरा, शत्रु यह अभिमान है ॥
मत देह में अभिमान कर, कुल आदि का तज मान दे।
'नहि देह मैं' 'नहि देह मेरा' नित्य इस पर ध्यान दे ॥

है दर्प काला सर्प, सिर उसका कुचल दे, मार दे।
ले जीत रिपु अभिमान को, निज देह में से टार दे ॥
जो श्रेष्ठ माने आपको, सो मूढ़ चोटें खाय है।
तू श्रेष्ठ सबसे है नहीं, क्या श्रेष्ठता दिखलाय है ॥

मत तू प्रतिष्ठा चाह रे, मत तू प्रशंसा चाह रे।
सबको प्रतिष्ठा दे, प्रतिष्ठित आप तू हो जाय रे ॥
वाणी तथा आचार में माधुर्यता दिखला सदा।
विद्या विनय से युक्त होकर सौम्यता सिखला सदा ॥

कर प्रीति शिष्टाचार में वाणी मधुर उच्चार रे।
मन बुद्धि को पावन बना, संसार से हो पार रे ॥
प्यारा सभी को हो सदा, कर तू सभी को प्यार रे।
निःस्वार्थ हो निष्काम हो, जग जान तू निःसार रे ॥

छोटे-बड़े निर्धन धनी, कर प्यार सबको एक सम।
बट्टे सभी सिल एक के, कोई नहीं है लेश कम ॥
मत तू किसी से कर घृणा, सब की भलाई चाह रे।
तब मार्ग में कांटे धरे, बो फूल उसकी राह रे ॥

व्यवहार-माधुर्य

● श्री देवनारायण भारद्वाज

ऋग्वेद ने मानव मात्र को जीवन में माधुर्य प्रवाह का उपदेश किया है। अधोलिखित मंत्र का मनन करने पर हृदय की मधुरता की मुस्कान सहज ही प्रफुल्लित होती है।

जिह्वाया अग्रे मे,
जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो,
मम चित्तमुपायसि ॥
(अथर्व० १/३४-२)

अर्थात्—मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मिठास होवे तथा जिह्वा के मूल में और अधिक मिठास होवे। हे मधु! तू अवश्य ही मेरे प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक बुद्धि में विद्यमान रह और तू मेरे अन्तःकरण के चित्त-प्रदेश तक पहुँचकर व्याप्त हो जा। सम्पूर्ण शरीर एवं आचरण को माधुर्यमय बनाने का सन्देश हमको उपरोक्त वेदमन्त्र दे रहा है—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" के अनुसार हम सत्य बोलें तो प्रिय या मधुर ही बोलें। बहुधा सत्य-भाषा के मार्ग में कठिनाई आ जाती है, किन्तु मधुरता के द्वारा उनका भी निवारण किया जा सकता है। एक राजा ने एक सुन्दर चिड़िया पाली थी, वे उससे बहुत प्रेम करते थे। सोने के पिंजड़े में रखकर सभी सुविधायें उसके लिए उपलब्ध थीं। चिड़िया के प्रति अत्यधिक मोह के कारण उनका आदेश था कि इसके मरने का समाचार उन्हें नहीं मिलना चाहिए। जिसने यह समाचार दिया, उसको दण्डित किया जायेगा। पर अन्ततः एक दिन चिड़िया का प्राणान्त हो ही गया। अब राजा को कौन सूचना दे और न दे तो लापरवाही का दण्ड कौन सहे? बड़ी सोच-समझ के बाद यह काम मंत्रीको सौंपा गया। मंत्री ने राजा से जाकर कहा—महाराज! आपकी चिड़िया आज कुछ भी नहीं खा रही है। वह चलती-फिरती भी नहीं, देखती भी नहीं, वह उल्टी पड़ी है और श्वांस भी लेती प्रतीत नहीं होती। मन्त्री और कुछ कहते कि राजा बीच में ही बोल उठे कि यह क्यों नहीं कहते कि चिड़िया मर गई। मन्त्री ने कहा कि महाराज! यह तो आप ही कह सकते हैं।

सत्य यही तो था कि चिड़िया मर गई, पर इसे ज्यों का त्यों कह दिया जाता तो वही कटु बनकर दण्ड का कारण होता। इसे मधुरता से मिश्रित कर दिया गया, तो भी सत्य ही रहा पर इससे जीवन-रक्षा हो गई। माधुर्य के साथ सत्य का जितना महत्व है, उतना ही उसके व्यवहारशील होने का भी है। महर्षि दयानन्द को एक साधु बराबर गालियाँ दिया करता था, पर वे उसे भेंट में आये फल व मिष्ठान्न भिजवा दिया करते थे। एक दिन उसका हृदय परिवर्तन हो गया। जिस सेवक जगन्नाथ ने विवेक शून्यता वश ऋषि को विष दिया था, उसीको उन्होंने धन देकर प्राण-रक्षा हेतु भाग जानेकी प्रेरणा दी थी। इसका तात्पर्य यह है कि जो माधुर्य

कथनमें हो वही व्यवहार में भी होना चाहिए तभी प्रभावकारी होता है। आज के अनेक उपदेशक अपरिग्रह का उपदेश देते हैं और स्वयं सम्पत्ति का भण्डार भरना चाहते हैं। तो फिर उपदेश कहाँ तक प्रभावशाली सिद्ध होगा। स्वामी रामतीर्थ अपनी विदेश-यात्रा के समय जब बन्दरगाह सान्फ्रान्सिस्को पर उतरे तो एक अमरीकी सज्जन ने सामान एवं पूँजी के नाम पर मात्र संक्षिप्त भगवा-वस्त्रों में उनके शरीर को देखकर जहाँ और अनेक प्रश्न पूछे वहाँ अन्त में यह भी पूछा कि आपका अमरीका में कौन परिचित है, जिसके आप अतिथि होंगे और जो आपके भोजन, वस्त्र, निवास आदि का प्रबन्ध करेगा। स्वामी राम ने मुसकराते हुए जब यह उत्तर दिया कि वह मित्र मेरे आप नहीं हैं क्या? यह शब्द सुनते ही वह अमरीकी गद्गद्-हृदय हो गया और स्वामीजी की सारी व्यवस्था उसने स्वयं की।

जब माधुर्य में सत्य एवं व्यवहारशीलता होती है तो उससे हर किसी को प्रेरणा प्राप्त होना सम्भव है। ऋषि उद्दालक ने जीवन को सफल बनाने के लिए योग-साधना और शास्त्र-स्वाध्याय खूब किया। पर वे बराबर उलझते गये और अन्त में उनको अपना लक्ष्य बड़ी दूर व असम्भव प्रतीत होने लगा तो उन्होंने सोचा कि जो देह जीव को परम श्रेय न प्रदान करा सके, उसके रहनेसे क्या लाभ? और उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब निरन्तर निराहार रहकर देहान्त करेंगे। इसी ध्येय से वे एक वृक्ष के नीचे आसन जमाकर बैठ गये। वृक्ष पर बैठे तोते ने सभी कुछ ताड़ लिया और ऋषिसे छोटा मुँह बड़ी बात के लिए क्षमा मागते हुए कहा कि जिस दृढ़ संकल्प से आपने मरण को वरण किया है, यदि उसी से आप अपनी वृत्तियों को उद्देश्य पूर्तिमें लगा दें तो अवश्य ही सफलता आपके चरण चूम ले। देह तो वैसे ही नाशवान् है, तुम दृढ़ निश्चयसे स्वयं को अमर बना सकते हो। यह बात एक तोता या अन्य किसी ने कही हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। बात वास्तव में प्रेरणापूर्वक थी। सत्य व्यवहारशीलता के साथ प्रेरणाप्रद होना भी माधुर्य की एक विशेषता है। यही नहीं माधुर्य आपके स्वत्व की रक्षामें भी समर्थ है। चित्रकार से एक चित्र बनवाया। चित्र का मूल्य पहले ही ठहराया जा चुका था। सेठ की आकृति का चित्र बन गया, पर जब मूल्य देने का समय आया तो सेठ को एक अनुपयोगी चित्र पर अच्छी खासी राशि जाते देख लोभ सवार हो गया। सेठ ने यह कहकर कि चित्र मुझसे मिलान नहीं खाता, मूल्य देने से मना कर दिया। चित्रकार का सारा श्रम व्यर्थ जा रहा था, फिर भी लड़ने से कोई लाभ नहीं होता। उसने मधुरता से काम लिया। उसने सेठ से कहा तो लिख दीजिये कि यह चित्र आपका नहीं है। सेठ ने पैसे बचाने के लिए ऐसा ही लिख दिया। चित्रकार ने उस चित्र को एक प्रदर्शनी में रख दिया और उसके नीचे लिख दिया "चोर की प्रतिकृति।" सेठ ने जब देखा तो परेशान! अन्ततः उसे चित्रके लिए पूर्व निश्चितसे अधिक मूल्य देना पड़ा।

इसी प्रकार जीवन-रक्षा की समस्या एक बार मथुरा के कवि मान के सम्मुख भी आ उपस्थित हुई थी। महाराजा रणजीतसिंह कवियों को खूब धन दान दिया करते थे। कवि मान भी प्राप्ति की इच्छा में लाहौर में पहुँच गये पर कर्मचारीगण मान को राजा रणजीतसिंह से मिलने ही न दें। दरबार के चक्कर लगाते कई दिन बीत गये। अन्ततो-

गत्वा एक पेशकार ने इस शर्त पर उन्हें प्रवेश दिया कि कविजी ! राजा के एकाक्ष होने का वर्णन अवश्य करें। कवि बड़ी कठिनाई में पड़ गये, क्योंकि राजा एकाक्ष थे और इस बात की चर्चा से रुष्ट होते थे। कवि दरबार में पहुँचे और राजा के सामने दोहा पढ़ दिया—

औरन के द्वै-द्वै भई,
वे अँखियाँ केहि काज।
तेरी एकहि आँख में,
कोटि आँख की लाज॥

दोहे के माधुर्य से कवि ने कई लाभ प्राप्त किए सत्य कहा, वचन निभाया, दण्डसे बचा और विपुल पुरस्कार भी प्राप्त किया।

बहुधा व्यक्ति बात-बात में लड़ पड़ते हैं और छोटी-सी बात आजन्म शत्रुता का कारण बन जाती है, पर योग्य पुरुष मधुरता से हर बात का निर्वाह कर लेते हैं। माधुर्य का मधुर जादू ऐसा ही होता है, तभी तो वेद कहता है—

मधुमन्मे निक्रमणं,
मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्,
भूयासं मधुसन्दृशः॥
(अथर्व० १/३४-३)

अर्थात्—मेरा निकट आना प्रवृत्ति माधुर्यमय होवे तथा मेरा दूर हटना निवृत्ति भी माधुर्यमय होवे। मैं वाणी से माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ। इसलिए हे मधुस्वरूप प्रभु ! मैं मधुरूप या सर्वत्र मधु को ही देखने वाला हो जाऊँ। प्रथम मन्त्र में जहाँ जिह्वासे लेकर चित्त तक माधुर्यमय होने की बात कही गई थी, वहाँ दूसरे मन्त्र में प्रवृत्ति-निवृत्ति के हर व्यवहार में माधुर्य के प्रयोग का सन्देश दिया गया है। उपरोक्त प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि माधुर्य के साथ सत्य, व्यावहारिकता, जीवन-रक्षा और शत्रु पर विजय सभी सुलभ किया जा सकता है। सहनशीलता के साथ वेद-मन्त्र के सारभूत उपदेश का परिपालन करने से हमारा हर व्यवहार उद्धार का स्रोत सिद्ध हो सकता है। यह भी विचारणीय है कि हारमोनियम अंगुली के संकेत मात्र से मधुर स्वर देती है, जबकि ढोलक की मृदुल ध्वनि हाथ को कठोर थापों से उत्पन्न होती है, पर इन थापों का ध्येय ढोलक को फाड़ना नहीं, गीत-संगीत को जोड़ना होता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

अयम आत्मा=यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। यम=जिसको एष=यह वृणुतेः स्वीकार कर लेता है, तेन लभ्य=उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि आत्मः यह परमात्मा; तस्य=उसके लिए स्याम तनूम=अपने यथार्थ स्वरूप को विवृणुते=प्रकट कर देता है।

—कठोपनिषद

आश्चर्यजनक सत्य

● श्री केशवजी उपाध्याय

देवाधिदेव महादेव, जगतपति जनार्दन श्री सद्गुरुदेवजी महाराज तथा परम-योग-योगेश्वर अकारण दयालु, अपने दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज की कृपा से, उन्हीं दयामय की चरण-शरण में घटित एक योग परक आश्चर्यजनक घटना का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है। इस घटनाक्रम द्वारा यह तथ्य स्वतः उजागर हो जावेगा कि संसार का कोई भी कार्य उनके संकल्प के बिना होना असम्भव है। घटनाक्रम से सम्बन्धित हमारे आदरणीय गुरुभाई श्री एस० सी० खरे जो इस समय जल निगम विभाग में अधिशासी अभियन्ता के पद पर आफिसीएट कर रहे हैं, हमारे आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज के शिष्य हैं। हम पर कृपा करके आदरणीय खरे साहब ने इस घटना को हमें बतलाया है, अतः उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए, श्री 'सिद्धयोग' पत्रिका के सुयोग्य पाठकों के सम्मुख अपनी टूटी-फूटी भाषा में उस घटनाक्रम को रखते हुए यह प्रार्थना है कि लेख की त्रुटियों को क्षमा करने की कृपा की जाय।

घटना सन् १९८७ के माघ कुम्भ मेले की है। श्री एस० सी० खरे साहब उन दिनों उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले के जल निगम विभाग में अधिशासी अभियन्ता के पद पर आफिसीएट कर रहे थे। आराध्यदेव के दर्शनार्थ एवं उनका सत्संग लाभ करने के, इलाहाबाद के इस माघ मेला में अपनी धर्म-पत्नी एवं बच्चों के साथ पहुँचे हुए थे। इस पवित्र पुण्य क्षेत्र में खरे दम्पति के मन में विचार आया कि आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान जी का फोटो खींच लिया जाय। मन में यह विचार पक्का हो जाने पर खरे साहब ने श्री प्रभुजी का फोटो खींचने के लिये अपने सूटकेस से कैमरा निकाल कर उसकी सेटिंग आरम्भ कर दी। जिस समय श्री खरे साहब फोटो खींचने के लिये कैमरे की सेटिंग कर रहे थे, उस समय श्री सिद्ध-गुफा सवाई आश्रम माघ मेला शिविर की झोंपड़ी के सामने एक तख्त लगा था, जिस पर प्रसन्न मुद्रा में आराध्यदेवजी विराजमान थे। उसके करीब ही एक दूसरा तख्त लगा था जिस पर परम योग साधिका हमारी आदरणीया गुरु बहन सुश्री डा० उमा शर्मा (बहन जी) विराजमान थीं एवं उसी तख्त पर उनके पास ही उनकी छोटी बहिन सौभाग्यवती रमादेवी बैठी थीं। जिस समय श्री खरे साहब श्री प्रभुजी का फोटो खींचने के लिये कैमरा सेट कर रहे थे, उस समय श्री प्रभुजी के पास हमारे एक गुरुभाई बैठे थे, जिनसे श्री प्रभुजी बात कर रहे थे। जब श्री प्रभुजी के पास बैठे गुरुभाई अपनी किसी कामना का प्रसाद लेकर श्री प्रभुजी को

प्रणाम करके चले गये तो, श्री खरे साहब ने (श्री प्रभुजी की बिना आज्ञा लिये) बड़े ही इत्मीनान एवं शान्त मन से सावधानी पूर्वक आराध्यदेवजी के तीन फोटो खींच लिये। फोटो खींचते समय श्री खरे साहब ने कैमरे की सेटिंग इस प्रकार से की थी कि श्री आराध्यदेवजी, सुश्री डा० उर्मा एवं सौभाग्यवती रमादेवी का फोटो बिल्कुल साफ-साफ खींचा जा सके। तीन बार फोटो खींचने के बाद श्री खरे साहब कैमरा बन्द करने ही वाले थे, कि उनके मन में विचार आया कि श्री प्रभुजी से मैं प्रार्थना कर लूँ कि वे अच्छी प्रकार से बैठ जायें, तब उनका एक और फोटो खींच लिया जाय।

यह विचार मन में आते ही श्री खरे साहब ने श्री प्रभुजी से प्रार्थना की कि प्रभो! आप का फोटो लेने की इच्छा है। श्री प्रभुजी ने आदेश दिया, ले लो लल्ला! फोटो खींच लो। इतना कहकर श्री प्रभुजी, यह लीला करते हुये कि वे फोटो खिचवाने के लिए तैयार होकर बैठ रहे हैं, अपने आसन पर खूब अच्छी प्रकार आराम से प्रसन्न मुद्रा में विराजमान हो गये। आदरणीया बहन सुश्री डा० उमा शर्मा एवं सौभाग्यवती रमादेवी भी फोटो खिचवाने की नियत से एलर्ट हो गयीं। श्री खरे साहब ने चौथी बार फिर उसी प्रकार से फोटो लिया जैसा इसके कुछ मिनट पूर्व वे तीन बार ले चुके थे। इसके बाद वे माघ-मेला के कार्यक्रम में श्री प्रभुजी का दर्शन एवं सत्संग लाभ करते रहे। माघ-मेला में कुछ दिन तक श्री प्रभु का चरण रज प्राप्त कर, वे अपने नौकरी वाले स्थान पर वापस आ गये। वापसी के बाद उन्होंने अपनी फोटो रीलों का जब पाजीटिव फोटो बनवाया तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मात्र चौथी बार का फोटो जिसे खरे साहब ने श्री प्रभुजी से आदेश प्राप्त करने के बाद लिया था, साफ एवं स्पष्ट आया था। इस फोटो में आराध्यदेव श्री प्रभुजी एक चौकी पर तथा हमारी दोनों गुरु बहनें बगल वाली चौकी पर स्पष्ट विराजमान दिखलायी दे रही थीं। बाकी इसके पूर्व लिये गये तीनों फोटो में, श्री प्रभुजी जिस तख्त पर बैठे थे वह तख्त दिखलायी दे रहा था, एवं श्री प्रभुजी के मुखारबिन्दु के स्थान पर एक ऐसा चिन्ह आया था, जिसे देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि किसी महान प्रकाशवान वस्तु का फोटो लिया गया हो। बहुत सावधानी पूर्वक देखने पर श्री प्रभु का कुर्ता एवं धोती कुछ-कुछ दिखलायी दे रहा था। इस बार सन् १९८७ के श्री प्रभु के वाराणसी मण्डल द्वारा मनाये जाने वाले जन्म-दिवस समारोह में श्री खरे साहब सपत्नी उपस्थित हुए थे एवं उन्होंने वे चारों फोटो की कापियाँ हमारे उन सभी गुरु-भाई-बहनों को सादर दिखलायीं जो इसे देखने के उत्सुक थे। हम लोगों ने भी बड़े ही उत्सुक मन से उपरोक्त चारों फोटो देखे। देखने के बाद मन में बड़ा ही कौतूहल पूर्ण आश्चर्य बना हुआ है। हमने इन चारों फोटो को कई बार बड़ी ही सावधानी पूर्वक देखा। श्री प्रभु जी के बैठने वाले स्थान पर केवल ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई महान प्रकाशवान वस्तु वहाँ रखी गयी हो। आप अपने श्रद्धावान मन से विचार करें कि आखिर निर्जीव कैमरे में यह भेद क्यों आ गया। श्री प्रभुजी की बिना आज्ञा के लिए गये तीनों फोटो में उनका (आराध्यदेवजी) फोटो न आना एवं उनकी आज्ञा प्राप्त कर, लिये गये, चौथे फोटो में उनका साफ-साफ फोटो आना क्या प्रमाणित करता है। फोटो खींचने में खरे साहब

ने न तो कोई गल्ती की होगी और न फोटो खींचने वाले केमरा की खराबी से ऐसा हुआ था। अब प्रश्न यह उठता है कि जब किसी स्तर पर गल्ती नहीं हुयी तो ऐसा हुआ क्यों? मेरी अल्प बुद्धि में जो बात समझ में आती है उसके अनुसार पहली तीन बार फोटो खींचने की क्रिया, जो खरे साहब द्वारा सम्पादित की गयी उसमें श्री प्रभुजी का संकल्प नहीं था एवं चौथी बार जो फोटो खरे साहब द्वारा लिया गया उसके पूर्व, उन्होंने श्री प्रभुजी से स्वीकृति प्राप्त कर ली थी, अतः चौथी बार फोटो खींचने की क्रिया के साथ श्री प्रभुजी के संकल्प ने काम किया। क्योंकि सकल्पके बिना किसी काम का होना असम्भव सा ही है। इस प्रसंग को लिपिबद्ध करते समय योगेश्वर महाप्रभुजी के चरण-कमलोंमें योगी साधक आदरणीय श्री नरसिंह मूर्तिजी के साथ घटित हुई एक घटना का भी स्मरण मन में बार-बार आ रहा है, जिसको यहाँ लिख देना मैं उचित समझता हूँ। इस घटना-क्रम के वर्णन द्वारा यह तथ्य स्वतः समझ में आ जावेगा कि अपने शिष्यों के हितार्थ, सर्व समर्थ सिद्ध गुरुदेवजी किस प्रकार से विधि का विधान सरलता से बदल दिया करते हैं।

प्रसंग इस प्रकार का है। एक बार श्री महाप्रभु जी के लाड़ले शिष्य परम योगी श्री नरसिंह मूर्ति ने श्रीचरणों में साष्टांग प्रणाम करके प्रार्थना की कि प्रभो! मैं चाहता हूँ कि अमुक सिद्धि मुझे प्राप्त हो जाय। इसके लिए मुझे कितने दिन का अनुष्ठान किस प्रकार से करना चाहिए। उनकी प्रार्थना को खूब अच्छी प्रकार से सुनकर श्री महाप्रभु जी ने मुस्कराते हुए आदेश दिया कि बेटा! तुम्हें इस सिद्धि की क्या आवश्यकता है? मेरी समझ से इस सिद्धि की आवश्यकता इस समय तुमको बिल्कुल ही नहीं है। जब कभी तुम्हें इसकी आवश्यकता होगी, बिना कुछ किये यह सिद्धि तुम्हारे अन्दर स्वतः आ जायेगी। प्रभुजी ने उसी तारतम्य में आदेश देते हुए आगे कहा कि बेटा! योगी साधकोंके साधना काल में मिली सिद्धि प्रायः अन्तराय का ही कार्य करती हैं। इन सिद्धियों के चक्कर में पड़कर योगी साधक जब अपने साधना के पथ से अलहदा हो जाता है तब ऐसी स्थिति में साधक का परम कल्याण होना बड़ा कठिन सा हो जाता है। इतना कहकर महाप्रभुजी शान्त हो गये, परन्तु योगी साधक नरसिंह मूर्ति के मन को ये बातें इसलिए अच्छी नहीं लगीं, क्योंकि उनके मन में उपरोक्त सिद्धि तत्काल प्राप्त करने की लालसा बहुत ही प्रबल हो गई थी। होनी को कोई रोक नहीं सकता, अतः वही हुआ जो परवर-दिगार को मंजूर था।

श्री नरसिंह मूर्तिजी ने यह बात कहीं सुनली थी कि भगवान शङ्कर का बरदान है कि शक्तिपीठ में की गई साधना कभी भी निष्फल नहीं होती। तात्पर्य यह है कि किसी सिद्धि या कामना प्राप्ति की नीयत से किसी शक्तिपीठ में अनुष्ठान किया जाय तो अनुष्ठान की पूर्णाहुति पर वह कामना या सिद्धि अवश्य ही प्राप्त हो जायेगी। बात भी यथार्थतः सत्य है, क्योंकि इसकी पुष्टि हमारे आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने अपने मुखारविन्दु से स्वतः की है। अतः नरसिंह मूर्तिजी चुपके से निकल गये और उपरोक्त सिद्धि की कामना से एक शक्तिपीठ में घोरतम तप से साथ अनुष्ठान करने लगे। नरसिंह मूर्ति ने काफी लम्बे समय का अनुष्ठान किया। उनके अनुष्ठान काल की एक घटना का वर्णन इस प्रकार से मिलता है।

आंध्र प्रदेश की महारानी जो योगिराज श्री नरसिंह मूर्ति की शिष्या थी, कावेरी मठ के शङ्कराचार्य्य के पास दर्शनार्थ गयीं। जब उन्होंने शङ्कराचार्यजी को प्रणाम किया तो उन्होंने आशीर्वाद देकर इनका कुशलक्षेम पूछा। महारानी ने निवेदन किया कि महात्मन ! और तो सब ठीक है, गुरुदेवजी के दर्शन हुए काफी समय हो गया, इसी से मन थोड़ा उदास सा बना हुआ है। मैं आपके पास यही निवेदन करने आई हूँ कि आप अन्तर्द्रष्टा हैं, आप हमें यह बतलाने की कृपा करें कि मुझे गुरुदेव भगवान के दर्शन कब तक होंगे। रानी ने श्री शङ्कराचार्यजी से प्रार्थना की कि मेरे गुरुदेव भगवान एक शक्तिपीठ में किसी सिद्धि प्राप्ति की लालसा से घोरतम तप के साथ अनुष्ठान कर रहे हैं। मैं यह जानना चाहती हूँ कि क्या उनका अनुष्ठान निर्विघ्न समाप्त हो जायेगा और यदि उनका अनुष्ठान सफल हो गया तो क्या उनको वह सिद्धि मिल जायेगी जिसकी कामना उन्हें है ?

श्री नरसिंह मूर्तिजी की शिष्या आन्ध्र की महारानी की बातों को शान्त मन से सुननें के बाद कावेरी मठ के शङ्कराचार्यजी ने अपनी बाहरी आँखें बन्द करलीं। करीब आधे घण्टे के बाद शङ्कराचार्यजी ने अपनी आँखें खोलीं एवं सामने बैठी महारानी को सम्बोधित करके इस प्रकार कहना आरम्भ किया। बेटी ! होना तो वही चाहिये जो तुम्हारे गुरुदेवजी ने सोच रखा है। भगवान शङ्कर की वाणी गलत तो होगी नहीं। परन्तु एक रहस्य की बात है जिसे मैं तुम्हें समझाये देता हूँ। वह यह है कि तुम्हारे दादा गुरुदेव, आध्यात्मिक जगत के सम्राट, योग-योगेश्वर श्री रामलालजी के संकल्प के बिना तुम्हारे गुरुदेव भगवान का कोई भी लौकिक या पारलौकिक कार्य होना असम्भव सा ही है। तुमने अपने गुरुदेव द्वारा की जाने वाली तपस्या, अनुष्ठान एवं सिद्धि के विषय में प्रश्न किया है तो उनके द्वारा शक्तिपीठ पर किया गया अनुष्ठान उनके गुरुदेव भगवान की करुण कृपा से निर्विघ्न पूरा हो जावेगा, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। परन्तु उनको वह सिद्धि नहीं मिल पावेगी जिसकी कामना को लक्ष्य बनाकर वे शक्तिपीठ पर अनुष्ठान कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि उनके द्वारा वांछित सिद्धि उन्हें मिल जाने के बाद उनके साधना में उसकी वजह से महान अन्तराय आने की आशंका है। अतः उनके सर्व समर्थ गुरुदेव इस अनुष्ठान के पुण्य को दूसरे प्रकार से उनके खाते में सम्मिलित कर देंगे। उनका उत्तर सुनकर महारानी ने श्री शङ्कराचार्य जी को प्रणाम किया एवं अपने निवास स्थान पर आ गयीं। श्री नरसिंह मूर्तिजी अनुष्ठान की निर्विघ्न समाप्ति पर इस आशय से प्रसन्न हो रहे थे कि उन्हें वांछित सिद्धि मिल गयी, परन्तु उन्हें आश्चर्य हुआ कि उन्हें वह सिद्धि नहीं मिली। हुआ वही जो कावेरी मठ के शङ्कराचार्य जी ने उनके अनुष्ठान काल में ही, अपनी आध्यात्मिक शक्ति से देखकर, उनकी शिष्या आन्ध्र की महारानी को बतला दिया था। कहने का तात्पर्य यह कि इस सिद्ध परम्परा में शिष्य का प्रत्येक कार्य उसके सर्व समर्थ गुरुदेव के संकल्प से ही सम्पादित हुआ करते हैं। अब लेख को यहीं विश्राम देते हुए सर्व समर्थ आराध्यदेव श्री प्रभुजी के युगल-चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम निवेदित करता हूँ।

पूर्व प्रकाशित से आगे—

योगेश्वर महाप्रभु

श्री रामलालजी महाराज

की

दिव्य जीवन-गाथा

श्री श्यामलाल खन्ना "श्याम"

माता भागवन्तीजी को विष्णु भगवान के दर्शन

दोहा—कृत्ता भाई सन्त सिंह था काफी विख्यात।
सुन्दर छोटा घर वहाँ जहाँ प्रगटे प्रभु राम॥
भागवन्ती की कोख से रामलाल अवतार।
चैत्र शुक्ला नवमी में बृहस्पति था वार॥
सम्वत था उन्नीस सौ पैंतालीस पुनीत।
इष्ट घड़ी छप्पन पल वृषभ लग्न था मीत॥

× × ×

माँ भागवन्ती ने देखा उजाला। अलौकिक महा दिव्य सबसे निराला॥
हजारों ही सूरज चमकते हों जैसे। ऐसा चमकता हुआ था उजाला॥
उजाले में न थी सूरज की गर्मी। था चाँद का सा यह शीतल उजाला॥
कभी देवकीजी ने देखा था इसको। जब जेल में आ के चमका उजाला॥
उजाले में विष्णु महाराज देखे। चतुर्भुज प्रभु का ही था उजाला॥
शंख और चक्र, गदा और पदम था। हीरों के हारों का गले में उजाला।
दो आँखें थीं सूरज और चाँद जैसी। मुकुट अपनी मणियोंसे करता उजाला॥
पीताम्बर था जैसे हो सोनेकी चादर। कमल फूल जैसे था मुखका उजाला॥
वह चौड़ा-सा सीना वह लम्बेसे बाजू। कानों में कुण्डल झलकते उजाला॥
सब देखते-देखते माँ ने देखा। नन्हे शिशु में सिमिटता उजाला॥

दोहा—दिव्य पुष्प बरसन लगे देवों के तत्काल।
माँ ने अपने पुत्र का चूमा भोला भाल॥
माया का परदा गिरा भूल गई सब हाल।
माँ की ममता जागती देखे अपना लाल॥

माता भागवन्ती गाने लगी

इन्सान बन के आया भगवान नन्हा-नन्हा ।
बलिहार इस पे जाऊँ मेरा यह प्यारा मुन्ना ।।
होठों पे मुस्कराहट मेरा मन लुभा रही है ।
गालें गुलाब जैसी, आँखें हैं सूर्य चन्दा ।।
नूरानी गोरे मुँह पर, जाहोजलाल ऐसा ।
कोहे नूर हीरा जैसे, रात में हो चमका ।।
यह बदन संगमरमर सा साफ और सुथरा ।
कोमल चरण कमल का मेरी गोद में उछलना ।।
जी चाहता है हरदम देखा करूं इसे ही ।
लब चूमती रहूँ मैं अमृत का जो है प्याला ।।
कभी मैं बनी कौशल्या और राम यह कहाया ।
जब कृष्ण बन के आया तब मैं यशोधा मैया ।।
रिश्ता मेरा पुराना चलता हो आ रहा है ।
गोदी में ही खिलाया हर बार मैंने नन्हा ।।

दोहा—मुखड़ा चूमे लाल का, भागवन्ती हर्षाय ।
मुख देखे माँ का, लला मन्द-मन्द मुस्काय ।।
इक दूजे को देखते जैसे चाँद चकोर ।
प्रेम नदी में तैरते जग से नाता तोड़ ।।
खेलत माँ की गोद में अलख निरंजन आप ।
माता तो धन-धन हुई मिटे सकल सन्ताप ।।

गली मुहल्ले की सखियों ने । खबर सुनी शुभ जब कानों से ।।
मिलकर दौड़ी दौड़ी आई । भागवन्ती को देत बधाई ।।
चांद सा मुखड़ा तेरे लाल का । रंग गुलाबी नन्हे गाल का ।।
देवी देवता सब बलिहारी । हम जायें सब वारी वारी ।।
मधुर मधुर मुस्काने लागीं । पंजाबी में गाने लागीं ।।

सखियों का गाना

भागां वालिये नी भागवन्ती ये तैनु लख लख होन वधाइयाँ ।
गोरा लाल रतन तूं तां पाया नी, पूरी होगइयाँ तेरी कमाइयाँ ।।
ऐसा तेज न कदी असी वेखया, तेरे लाल दा मुखड़ा पेखया ।
एहो जवतारी कोई घर आया नी, खुशियां दिलां दे विच न समाईयाँ ।।
जी करदा ऐ तेरे घर बैठिये, तेरे लाल नूं वेखदी रहिये ।
ऐसा आनन्द कदे असी पाया न, असी सदियाँ वांग सुदाईयाँ ।।

रब जाने ए कृष्ण कन्हहिए, या ए लछमन दा बड़ा भाई ए।
चाहे कोई ए नूर इलाहिए, एदे चरणं तो वारी-वारी जादियाँ ॥
मिर्चाकर नी अपने लाल तों, साड़ी नजर किते लग जाये ना।
जुग-जुग जीवे अवतारी तेरा लाल नी, लग्गन साढ़ियाँ इसनूं दुआईयाँ ।'

दोहा—सखियों के पश्चात् अब लगे सम्बन्धी आन।
नूरानी मुख चूम कर लगे प्रभु गुण गान ॥
गण्डाराम जी खुशी खुशी करते थे सत्कार।
लड्डू सबको बाँटते करते प्रकट आभार ॥
घर में मंगल छा रहा कोई आए कोई जाए।
सभी बधाई दे रहे सबके मन हर्षाए ॥

भिक्षु जी भी द्वारे आता। दानी पिता से दान या पाता ॥
जन्खों ने आ नाच दिखाया। मुँह माँगा पारितोषिक पाया ॥
भण्डारे में जो भी आता। हलवा पूरी खाकर जाता ॥
कई दिनों तक जशन हुआ है। बालक को सब दीनी दुआ है ॥

दोहा—जन्म पत्री पुत्र की लगे बनाने बाप।
ज्योतिष में प्रवीन थे गण्डारामजी आप ॥
रामचन्द्र भगवान से मिलते लगन तिथि।
मेरा ज्योतिष कह रहा यह तो राम वही ॥

निराकार साकार बना है। योग का सूरज आन चढ़ा है ॥
जब जब धर्म की होवे हानी। दुष्टों से दुःख पावे प्राणी ॥
तब तब विष्णु ले अवतार। पतितों का होता उद्धार ॥
दुःख हरन अब फिर से आया। ब्रह्मानन्द का सागर लाया ॥
योग का यह प्रचार करेगा। भक्तों को भव पार करेगा ॥
भारत की अब शान बढ़ेगी। दुनिया इसका मान करेगी ॥

दोहा—मेरे पुत्र के रूप में प्रकट हुए वही राम।
इनको अब मैं दे रहा रामलाल का नाम ॥
यह जंगल में जायेंगे गुरु योगी के पास।
फिर आकर संसार में करें योग प्रकाश ॥
बड़ोभाग्य जो घर में आये हैं भगवान।
मेरा और संसार का दोनों का कल्याण ॥

पण्डित गण्डारामजी गाने लगे

जब जब अधर्म फैला और धर्म डगमगाया
तब तुम राम आए।
दुष्टों ने सर उठाया भक्तों ने कष्ट पाया
तब तुम राम आए॥

हरणाकश्यप ने था जब प्रह्लाद को सताया
लोहे का एक खम्बा उसके लिए तपाया
खम्बे को फाड़ डाला, नरसिंह रूप धारा
तब तुम राम आए॥

रावण का पाप बढ़कर पहुँचा था चरम सीमा
ऋषियों का यज्ञ पूजन पड़ गया था धीमा
सीता चुरा के लाया, बन्दी उसे बनाया
तब तुम राम आए॥

जब कंस अत्याचारी करता था जुल्म भारी
रोते बिलखते बच्चे प्रजा दुःखी थी सारी
श्रीकृष्ण रूप धारा, उस कंस को था मारा
तब तुम राम आए॥

कलियुग में योग विद्या अब लुप्त हो रही है
अब योगियों की शक्ति कन्दरा में सो रही है
अब भक्त बे सहारे, आए तेरे द्वारे
अब फिर राम आए॥

दोहा—आनन्द में भरपूर हो झूमे गण्डाराम।
राम राम रटने लगे हरदम सुबह औ शाम॥
आंगन में खेलें प्रभु मात पिता हर्षाएं।
नन्हे नन्हे पाओं पर राम उठें गिर जाएं॥
चलना सिखलाने लगी माता पकड़े हाथ।
ठुमक ठुमक चलने लगे राम मात के साथ॥
चांदी के घुँघरू बंधे जो टखनों के पास।
छन छन की झंकार से लगे जो पड़ली रास॥
खेल खेल कर थक गये माँ के नन्हें लाल।
नन्हें तलवे लाल थे, लाल थे उसके गाल॥
माता ने झट पकड़ कर गोदी लिया उठाए।
दूध पिलाया पुत्र को लोरी उसे सुनाए॥

माता भागवन्तो की लोरी

सो जा जगत आधारे सो जा,
सो जा लाल दुलारे सो जा।

तू है अजर अमर अविनाशी।
सब का आतम घट घट वासी।
सत चित्त आनन्द की राशी।
तीनों लोक के स्वामी सो जा।
सो जा अन्तरयामी सो जा॥

विश्व का पालनहार तू ही है।
अखण्ड मंडलाकार तू ही है।
वेद शास्त्र का सार तू ही है।
अपने आप समा के सो जा।
माया को फैला के सो जा॥

सिद्ध, मुनी, योगी, सन्यासी।
भक्त जो तेरे दास और दासी।
गृहस्थ में हैं या हैं बनवासी।
उनको दर्शन दे के सो जा।
सो जा राम प्यारे सो जा॥

जीवन तत्व साधन में—

स्कन्ध-चालन की प्रक्रिया

● श्री गुरुदेवजी द्वारा

स्कन्ध चालन जीवन तत्व की दूसरी क्रिया है। इसके करने के लिए मनुष्य को सुखासन से बैठ जाना चाहिए और सिर को सीधा रखते हुए दोनों कन्धों को साइकिल के पैडल की तरह चलाना चाहिए उसका ठीक प्रकार यह है। अपने दाहिने कन्धे को नीचे की ओर झुका दीजिये, जितना भी दबाया जा सके। ऐसा करने पर बांया कंधा स्वाभाविक ही ऊँचा उठ जायेगा। फिर दाहिने कंधे को झुके हुए आगे ले जाकर ऊपर ले जाओ। ऊपर की ओर ले आ करके उसको पीछे ले जाओ। ज्यों-ज्यों दाहिने कंधे को नीचे की ओर ले जाओगे, त्यों-त्यों बायां कंधा ऊपर की ओर हो जायगा और ज्यों-ज्यों दायां कंधा आगे की ओर झुकाओगे, त्यों-त्यों कंधा पीछे की ओर जायेगा और ज्योंही दायां कंधा ऊपर की ओर जायेगा, त्योंही बायां नीचे की ओर जायेगा और दायां कंधा ऊपर की ओर होकर के पीछे की ओर हो जायेगा। इस क्रिया को करने पर दोनों कंधे साइकिल के पैडल की तरह गोलाकार रूप में घूमते रहेंगे। सिर सीधा रखकर सामने की ओर देखते रहना चाहिए। इस क्रिया को पन्द्रह मिनट तक करते रहना चाहिए।

इस क्रिया को विपरीत गति से भी किया जा सकता है। यदि हम पीछे की ओर से आगे की ओर चलाना चाहते हैं तो अपने दाहिने कंधेको कान तक ऊपर उठाना चाहिए और बांया कंधा नीचे की ओर ले जाना चाहिए। आगे की ओर झुके हुए बांये कंधे को गोलाकार घुमाते हुए नीचे की ओर ले चाहिए। दाहिने कन्धे को नीचे की ओर झुकाने से बांया कन्धा स्वयं पीछे की ओर घूमता हुआ ऊपर की ओर चला जायगा। इसी प्रकार दोनों कंधे बेलनाकार घूमते रहेंगे। इस क्रियाको करनेसे फेफड़े सक्रिय हो जाते हैं और उसके सुषुप्त वायुकोष खुल जाते हैं और अपना कार्य सुचारु रूप से करने लगते हैं। कंधों, हँसली एवं गर्दन के सभी विकार दूर हो जाते हैं। यकृत को जिगर व अंग्रेजी में लिवर (Liver) कहते हैं, इस क्रिया का प्रभाव यकृत व प्लीहा पर भी पड़ता है। जिगर की खराबी वर्तमान युग की सभ्यता का सबसे बड़ा प्रसाद है। हमारे कुपथ्यों-दुष्कर्मों से नियमित जीवन जीने से तथा व्यायामादि न करने से यकृत बिगड़ जाता है और बढ़ जाता है। अंग्रेजीमें कहावत है कि-

Life, love and liver are inseparably tied together.

अर्थात् जीवन प्रेम और जिगर इस प्रकार परस्पर बँधे हुए हैं कि वे अलग नहीं किये जा सकते। जिसका जिगर खराब, उसकी जिन्दगी बर्बाद, जिसकी कि जिन्दगी बर्बाद उसके लिए प्रेम वैसे ही है। जैसे भैंस के लिए बीन व बन्दर के लिए अदरक।

यकृत में एक ऐसा रस रहता है, जो हर

प्रकार के विष को वेकार कर देता है। यकृत से एक पाचक रस निकलता है जो भोजन को पचाने में सहायता करता है। जब यह रस भोजन में नहीं मिलता तो पेट में अफरा और भारीपन हो जाता है और पीड़ा होने लगती है। खून नहीं बनता है और पलिया रोग हो जाता है, यकृत आकार में बढ़ जाता है। छाती की जलन, मुँह का कड़वापन, खट्टी डकार, फडीव, कै व हरे-पीले दस्त आदि रोग जिगर की खराबी से होते हैं। स्कन्ध-चालन क्रिया करने से यकृत में खराबी नहीं आती है और यदि कोई भी दोष आ भी गया है तो वह दूर हो जाता है और जिगर अपना कार्य सुचारु रूप से करने लगता है।

स्कन्ध-चालन क्रिया का विशेष प्रभाव Thyroid व Parathyroid Glands पर पड़ता है। यह Gland क्या है और हमारे शरीर को स्वस्थ रखने में उनका क्या महत्व है, इस पर हम विस्तार से विचार करेंगे।

Thyroid Glands--यह ग्रन्थि मनुष्य की ग्रीवा के कुछ नीचे श्वांस नली के दोनों ओर स्थित होती है। इसके दो पिण्डक होते हैं, जो ऊपर की ओर फैले रहते हैं, नीचे की ओर जुड़े रहते हैं। ग्रन्थ का प्रत्येक पिण्ड लगभग पाँच सेन्टीमीटर लम्बा व तीन सेन्टीमीटर चौड़ा है। इसका ऊपरी भाग नुकीला और उसका नीचे का भाग चौड़ा होता है। इस ग्रन्थि का रंग भूरा होता है, ग्रन्थि में पीले रंग का हारमौन, जिसे Thyroxin कहते हैं। थाइरॉक्सन का प्रमुख भाग आयोडीन होता है। भोजन में आयोडीन की कमी से यह ग्रन्थि फूलने लगती है और मनुष्य को घेघा रोग हो जाता है।

इस ग्रन्थि में रक्त के श्वेत कीटाणुओं की प्रमुख छावनी रहती है अर्थात् यह उनका सबसे सुदृढ़ किला है। यह ग्रन्थि जब तक सशक्त रहती है और अपना कार्य ठीक प्रकार से करती रहती है, तब तक मनुष्यों के ऊपर रोगों का आक्रमण नहीं होता है और वृद्धावस्था जल्दी नहीं आती है। जब यह ग्रन्थि ठीक कार्य नहीं करतीं, तब शरीर में रोग के कीटाणु अपना प्रभाव जमाने लगते हैं और मनुष्य स्वस्थ नहीं रह पाता।

Parathyroid Glands—इस ग्रन्थि की संख्या चार होती है। दो ग्रीवा में थाइरॉयड ग्रन्थि के ठीक पीछे स्थित रहती है। इन ग्रन्थियों का आकार छोटा लगभग ६ सेन्टीमीटर, रंग भूरा-लाल होता है। दो ग्रन्थियाँ ऊपर और दो ग्रन्थियाँ नीचे रहती हैं। पैराथाइरॉयड ग्रन्थि से ParaThyrin नामक हारमोनम निकलता है। इस हारमोनम का कार्य रक्त से कैलशियम और फास्फोरस की मात्रा पर नियन्त्रण रखना। उस हारमौन की कमीसे बच्चों की हड्डियाँ कमजोर व लचीली हो जाती हैं। जब इस ग्रन्थिकी क्रियाशीलता कम हो जाती है, तब मनुष्य के हाथ-पैरों में ऐंठन होने लगती है। थायरायड ग्रन्थि के कार्य के महत्व को समझने के लिए हम एक काल्पनिक उदाहरण का आश्रय लेंगे। हमारे शरीर रक्त में दो प्रकार के कीटाणु पाये जाते हैं। एक लाल रक्त कीटाणु तथा एक श्वेत रक्त कीटाणु उनका आकार इतना छोटा होता है कि साधारण आँखों से नहीं देखा जा सकता। खुर्दबीन से देखने पर पता लगता है कि एक लाल कीटाणु का व्यास लगभग १/३२०० इंच तथा मोटाई लगभग १/१२००० इंच होती है। यदि एक करोड़ लाल कीटाणु एक स्थान पर सटाकर रखे जावें तो वे केवल एक वर्ग इंच जगह घेरेंगे। श्वेत रक्त कीटाणु

आकार में कुछ बड़े होते है, इनका व्यास १/२५०० इन्च होता है। अनुमानतः हर पांच सौ लाल कीटाणुओं पर एक श्वेत कीटाणु होता है।

श्वेत कीटाणु सैनिक हैं और लाल कीटाणु नागरिक है। जब कोई रोग कीटाणु शरीर में प्रवेश करता है तो श्वेत कीटाणु उसे मार डालते है, किन्तु रोग कीटाणु बलवान हुए और श्वेत कीटाणु दुर्बल हुए तो रोग कीटाणु मारते-काटते आगे बढ़ने लगते हैं। परमात्मा ने हमारे शरीर की रचना बड़े विचित्र ढंग से की है और रोगों की रोकथाम के लिए अनेक संस्थान बना रखे है। जहाँ-जहाँ शरीर में जोड़ है, वहाँ-वहाँ श्वेत कीटाणु रूपी सैनिकों की छावनियाँ बनी है और वहाँ श्वेत कीटाणु की एक सेना मौजूद रहती है। सबसे बड़ी छावनी व सुदृढ़ किला थोरायड ग्रन्थि में है जहाँ अरबों-खरबों की संख्या में सेना मौजूद रहती है।

रोग कीटाणु की एक विशेषता यह है कि जब वे शरीर के किसी एक भाग से प्रवेश करते हैं, तो एक दो-दो से चार से चार आदि क्रम से अपनी संख्या बढ़ाने लगते हैं और श्वेत कीटाणुओं से युद्ध करते हुए रक्त नलिकाओं द्वारा हृदय की ओर बढ़ने लगते हैं। शरीर के जोड़ों पर जहाँ सैनिकों की छावनी है, वहाँ जमकर लड़ाई होती है। बहुधा यहीं पर रोग कीटाणु हार खा जाते है और आगे नहीं बढ़ पाते, किन्तु यदि रोग-कीटाणु सशक्त हुए और हमारे सैनिक कमजोर पड़ गये, तो उन छोटे किलों पर भी विजय प्राप्त कर लेते है और आगे बढ़ चलते हैं। सबसे बड़ी सेना थोरायड ग्रन्थिमें रहती है, यहाँ सैनिकों की संख्या भी अधिक होती है और शरीर के अन्य भाग से भी श्वेत कीटाणु सैनिकों की यहाँ सहायता देने पहुंच जाते है। यहाँ पर बड़ी भयङ्कर लड़ाई होती है और उस युद्ध मे इतनी ऊष्मा पैदा होती है कि सारा शरीर गर्म हो जाता है और लोग कहने लगते हैं कि बुखार आ गया। इस किले पर विजय प्राप्त करना साधारण रोग-कीटाणुओं के बस की बात नहीं। यहाँ के युद्ध में रोग-कीटाणु व श्वेत कीटाणु भारी संख्यामें मारे जाते है और उनकी लाशें-मवाद, बलगम व दस्त आदि विजातीय द्रव्यों के रूप में शरीर से बाहर निकल जाते हैं, जब शरीर में कोई रोग हो जाता है, तो मनुष्य औषधि का सहारा लेता है। औषधियाँ श्वेत कीटाणुओं की संख्या को बढ़ाती हैं और उनको बलवान बनाती हैं। ताकि वे रोग कीटाणुओं से युद्ध में विजय प्राप्त कर सकें।

यदि कोई रोग कीटाणु उतना बलवान व शक्तिमान हुआ है कि वह थोरायड ग्रन्थि के किले को भी विजय करलें तो वह आगे बढ़ कर सीधे हृदय पर आक्रमण कर देता है और मनुष्य की जीवन-लीला समाप्त कर देता है। थोरायड ग्रन्थि के आगे कोई ऐसा किला भी नहीं है, जहाँ रोग कीटाणुओं को रोका जा सके। कहते है कि हैजेके कीटाणु इतने शक्तिवान होते हैं कि शरीर में घुसने के साथ ही मिनटों में लाखों-करोड़ों की संख्या में बढ़ने लगते है और शरीर के लाल व श्वेत कीटाणु को मारते हुए और बीच की छावनियों पर विजय करते हुए एक घण्टे में थोरायड ग्रन्थि पर पहुँच जाते हैं, शरीर में लाशें ही लाशें हो जाती हैं और के, दस्त के रूप में बाहर निकलने लगते हैं। मनुष्य की शक्ति क्षीण होने लगती है, थोरायड ग्रन्थि के सैनिक

थोड़ा मुकाबला करते हैं। मगर उस समय तक हैजे के कीटाणुओं की संख्या महाशंखों में पहुँच जाती है। वे इस बड़े किले को भी विजय करते हुए हृदय पर पहुँच जाते हैं और मनुष्य एक घंटेमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त वर्णनसे मालूम होता है कि हमारे शरीर के थोरायड ग्रन्थि का कितना बड़ा महत्व है। रोग के कीटाणुओं का आक्रमण निरन्तर हुआ करता है, किन्तु हमारे शरीर के सैनिक उनको मार-काटकर खा जाते हैं। यदि हमारी थोरायड ग्रन्थियाँ मजबूत हैं, तो किसी रोगाणु में इतना साहस नहीं है कि इस पर विजय प्राप्त कर सके। अतः रोगोंसे बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने थोरायड ग्रन्थियों को बलवान व शक्तिमान बनाये रखें। स्कन्ध चालन से यह ग्रन्थि सशक्त बनी रहती है और उसमें रहने वाले सैनिक कभी युद्ध में परास्त नहीं होते।

सर्वांग आसन करने से भी थोरायड ग्रंथियों को विशेष रक्त की मात्रा मिलने लगती है और वे बलवान बने रहते हैं। यदि जीवन-तत्व साधन की क्रियाओं को करने के बाद थोड़ा आराम करके सर्वाङ्ग आसन व मत्स्यासन कर लिया जाय, तो थोरायड-ग्रन्थियाँ मजबूत हो जाती हैं और उनकी क्रियाशीलता बराबर बनी रहती है। तब तक मनुष्य निरोग बना रहेगा और वृद्धा-वस्था नहीं आयेगी। सर्वाङ्गासन व मत्स्या-सन करने की विधि किसी से भी सीखी जा सकती है।

व्यंग्योक्ति—

—: गीता है :—

● श्री दिव्य

ऊषा कुंकुम की थाली में ले आई प्रभात की वेला,
मैं प्रमाद में पड़ा हुआ था अपनी शय्या पर अलबेला।
भोर हुआ-सा जान चला दी घरवाली ने अपनी चक्की,
और पीस डाला कुछ क्षण में उसने ज्वार-बाजरा-मक्की॥
मैंने कहा 'नींद में मेरी यह क्या किया फजीता है!'
वह बोली प्रिय सुनो! 'यही तो 'कर्मयोग' की गीता है॥'

साधु एक चला आता था कर गंगा-स्नान,
था जल-पात्र हाथ में उसे मिला मार्ग में श्वान।
प्यासा था लेकिन साधु ने दिया न उस पर ध्यान,
किया श्वान ने तुरत उछल कर तब पानी का पान॥
डण्डा मार दिया साधु ने कहा 'दुष्ट क्यों पीता है!'
बोला श्वान 'यही क्या! साधु साम्य-योग की गीता है?'

(ऋतावरी से साभार)

आँख-मिचौनी

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

संसार क्या है ? आँख-मिचौनी का एक खेल है। वह क्या होता है ? एक खिलाड़ी आँख बन्द करवाता है और दूसरे खिलाड़ी कहीं छुप जाते है कि "आ-जा" तो वह आंख छुड़वाकर उन्हें खोजने निकलता है। उन छुपने वाले खिलाड़ियों का प्रयत्न यह रहता है कि हमें 'अन्वेषक' (खोजने वाला) हाथ न लगा पाये और हम उस आंख बन्द करने वाले 'आसनस्थ' व्यक्ति को छुये जानेसे पहले ही छू लें। अन्वेषक इस दौड़-धूप में यदि किसी को छू लेता है, तो वह खिलाड़ी आंख बन्द करवाता है और बाकी छुपते है। यदि कोई भी खिलाड़ी अन्वेषक के स्पर्श में नहीं आता, फिर उसी को ही आखें बन्द करवानी पड़ जाती हैं। यह है बड़ा मनोरंजक खेल 'आँख-मिचौनी' का।

परमात्मा ने भी सृष्टि बना दी तो सभी प्राणधारियों से कहा कि मुझे ढूंढलो। इतना कहकर वह स्वयं अणु-अणु में ओत-प्रोत हो गया। कण-कण में जा विलीन हुआ जैसाकि वेद कहता है कि 'तत्सृष्ट्वा तदनुप्रविशत्'— "उस परमात्मा ने जगत की रचना की और उसमें वह रम गया।" वह ईश-सत्ता इस प्रकार कहीं खो गई, जो सब प्राणियों में सर्व श्रेष्ठ प्राणी मनुष्य भी उसे देखता रह गया, परन्तु वह दृष्टिगोचर न हो सका। इसी सच्चाई का समर्थन करते हुए श्वेताश्वर उपनिषद् ६-११ में कहती है—

एकोदेव: सर्वभूतेषु गूढ़:,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:,
साक्षी चेता: केवलोनिर्गुणश्च॥

वह एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्व व्यापक और सब प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा है। वही सबके कर्मों का अधिष्ठाता है अर्थात् उसी की ही शक्ति से जीव सब कर्म कर लेता है। समस्त भूतों का वह निवास-स्थान है अर्थात् पृथ्वी, जल-वायु, अग्नि और आकाश और चराचर जगत उसी के आश्रय में स्थित है। सबका साक्षी है वह, वह परम चेतन, अति शुद्ध और तीनों गुणों से (सत्व-रज-तम) ऊपर है, उसी एक की ही खोज हो रही है।

विश्व के इस प्रपंच में परमात्मा तो कहीं सुगुप्त हो गये। हम मनुष्य कहलाने वाले जीव जो उस ब्रह्म के ही अंश हैं, बन गये उसे ढूंढने वाले। तीनों गुणों वाली प्रकृति ने करदी हमारी वह आंख बन्द, जिससे हम परमेश्वर को देख सकते थे। अब परिणाम क्या हुआ कि हम उस बन्द आंख को लिए बैठे हैं। जिन भगवान को हमें खोजना है, वह हमें अनेकों रूपों में समय-समय पर ईश्वर भी करते हैं। अपना पता भी दे देते हैं कि मैं किसमें और कहाँ बैठा हूँ, परन्तु हम उसे छू नहीं पाते। उसका साक्षात्कार करने में जब देखो, तब असमर्थ ही रहते हैं। यही कारण

है कि हमारी उद्विग्नता और व्याकुलता का। अपनी आंखें बन्द कराये बैठे हैं, इसी प्रकार बैठे-बैठे हमें सैकड़ों ही वर्ष बीत जाते हैं।

वह नटनागर परमात्मा भी हमारी ऐसी मूढ़ता पर कभी हँसता है, कभी रोष में आ जाता है, कभी उदासीन हो जाता है और कभी-कभी करुणा करके अपना पता भी दे देता है। शास्त्र में बताई हुई छः प्रकार की ईतियाँ क्या हैं ? उस सच्चे पिता परमात्मा की कृपा की निशानियाँ हैं। वे ईतियाँ कौन-कौनसी हैं ?

अति वृष्टिरनावृष्टि,
मूषकाश्शलभाश्शुकाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः,
षडेताईतयस्स्मृताः॥
(स्मृति)

(१) अत्यधिक वर्षा होना, (२) वर्षा का न होना, (३) चूहों का आकर अन्न-वस्त्रादि की भीषण हानि कर जाना, (४) अन्नादि में टिड्डियों का टूट पड़ना या और भी अनेक प्रकार के कीटाणुओं—कृषि-कीट, पतंगे आदि का लगना, (५) उद्यानों, उपवन, वाटिकाओं में लगे हुए फलादिकों पर तोते आदि पक्षियों का आक्रमण करना और अपार क्षति पहुँचा जाना, (६) राष्ट्र के विरोधी राजाओं का हर समय आंखें दिखाते रहना। कोई न कोई छेड़छाड़ करते रहना और कभी-कभी चढ़ाई तक कर देना। ये हैं विपदायें, जो हमारे जीवन काल में व्यक्ति रूप में या समष्टि रूप में हम पर आती हैं। अब हममें से कौन चाहता है कि जल-प्रलय हो जाय ? लाखों ही घर बह जाएँ ? जन-धन की अगणित हानि होवे ? फसलें नष्ट हो जाएँ ? सूखा पड़ने से भुखमरी होने लगे ? करोड़ों की संख्या में चूहे आकर सारी सृष्टि के अन्न-भण्डारों को चुपके से खा जाएँ ? टिड्डीदल एक साथ ही पकी हुई और आनन्द में लह-लहाती हुई फसलों पर हाथ साफ करता हुआ निकल जाय ? फलों से लदे हुए बाग-बगीचों को हजारों तोते आकर तहस-नहस करदें ?

शत्रुओं की आंखों की किरकिरी बन जाय हमारा देश ! कोई भी तो इन आधि-भौतिक दुःखों का शिकार नहीं बनना चाहता, परन्तु ये विपत्तियाँ स्वाभाविक ही घटित होती हैं। अन्तहीन अन्त हो जाता है देश की सुख-समृद्धि का। बे-घरबार हो जाते हैं हजारों परिवार। पशु बह जाते हैं—पक्षियों की, जलचरों की, कृमि-कीटों की दुर्दशा की कोई सीमा नहीं दिखाई देती ! यह भीषण काण्ड क्या है ? उस हमारी 'आंख-मिचौनी' का खेल लगाने वाले प्रमुख खिलाड़ी की ओर से मधुर-मधुर संकेत हैं किस बात के ? वह हमारा परम सखा बड़ा दयालु है। वह हमें अपना पता देता है कि मैं इन ऊपर गिनाये हुए उपद्रवों के पीछे गुप्त रूप से छुपा बैठा हूँ। ऐ बुद्धिमान मनुष्य ! तू मुझे छू ले। जब तू मेरा संस्पर्श कर लेगा, तू तीनों तापों से और सम्पूर्ण कष्ट-क्लेशों से छूट जायगा। निर्वाण पद को तत्काल पा लेगा, उस परम सत्ता के अन्दर विलीन हो जाने का नाम ही तो 'मोक्ष' है, इसे ही परि-निर्वाण कहते हैं। यह अवस्था यद्यपि है तो बड़ी ही दूर की, परन्तु हम सबकी अन्तिम इच्छा है तो यही कि हम जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त हो जाएँ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्।
(योग-दर्शन १-१-७)

अर्थात् उस जगत के कारण परमात्मा के एकाकार होने का नाम 'मुक्ति' है।

जिस समय जीवात्मा योग के अंगों का

निरन्तर अनुष्ठान करता हुआ मन-बुद्धि और अहङ्कार की गहन कन्दराओं को पार करके उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा में समाहित हो जाता है, तब दूसरे खिलाड़ियों को पकड़ने की बारी समाप्त हो जाती है। जब प्रकृति के क्षण-क्षणु में व्याप्त परमात्मा देव ही छू लिए गये, फिर 'आंख-मिचौनी' के खेल की ही इतिश्री हो जाती है, वह मनुष्य त्रिगुणातीत हो जाता है।

एक बार ऐसा हुआ कि किसी देश के महाराज कुमार ने अपने मित्र राजकुमारों को दावत दी। रमणीय दिवस था, आकाश में मेघ छाये हुए थे, शीतल पवन बह रहा था। सभी राजपुत्र बाहर कहीं पहाड़ियों के आंचल में निकल गये।

वहाँ उन्होंने 'आंख-मिचौनी' का खेल ही खेलना आरम्भ किया। अब तो एक-एक युवराज बारी-बारी आंख बन्द करवाता और बाकी खिलाड़ी पहाड़ों की गुफाओं में घनी झाड़ियों में और ऊँचे टीलों के पीछे छुप जाते। होते-होते महाराज कुमार की बारी भी आंखें बन्द कराने की आ गई।

खेल के नियमानुसार महाराजा का पुत्र महेन्द्र आंखें बन्द करवाने बैठ गया और अन्य युवराज दूर-दूर स्थानों पर छिप गये थे। उनकी ओर से संकेत पाते ही वह राजपुत्र लगा उनको पकड़ने। अब पकड़ाई कौन दे? सब किसी न किसी तरह कन्नी काट जाते और 'निमीलिक' (आंख बन्द करने वाले) को अपने छुए जाने से पूर्व ही आकर हाथ लगा देते। महाराज कुमार एक-एक के पीछे भागता फिरता था—खेल में कौन बड़ा और कौन छोटा? इस भाग-दौड़ में वह थककर चूर हो गया।

अकस्मात ही उस दिन उधर से राज-दरबार के सुरेश्वरजी आ निकले। उन्होंने युवराज की ऐसी दशा देखकर बड़ा दुःख मनाया और उससे बोले—

कुमार! यह क्या हो रहा है?

महेन्द्र—भगवन्! हम आज 'आंख-मिचौनी' का खेल खेल रहे हैं।

राज-पंडित—खेल तो खेल रहे हो, परन्तु अपनी हालत देखी है? एक-एक के पीछे भाग-भागकर पसीना-पसीना हो गये हो। अपने शरीर को ऐसा नहीं सताया जाता, मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। महाराज भी जब सुनेंगे तो बड़ा दुःख मनावेंगे। कोई ढंग का खेल खेलो, जिससे मन भी बहल जाय और प्रेम भी बढ़े।

महेन्द्र—पण्डितजी! मुझे इसमें बड़ा रस आ रहा है।

पण्डितजी—सुनो, तुम महाराज कुमार हो और ये सब राजकुमार, बजाय एक-एक के पीछे दौड़-दौड़कर तुम परेशान होते फिरो यह कहीं अधिक अच्छा है कि तुम यहीं पर ही ठहर कर आज्ञा दे दो कि अमुक राज-कुमार मेरे पास आ जाय। बस, तुम उसे हाथ लगा दो, इससे तुम्हारी बारी भी जाती रहेगी और इतनी सख्त दौड़-भाग भी न करनी पड़ेगी।

महेन्द्र—पण्डितजी! विचार आपका है तो अच्छा, इससे मुझे इतनी थकान न होगी, किन्तु एक-एक के पीछे दौड़ने में और उसे छू लेने के प्रयास में साथ ही उसके अपने को बचाने में जो एक प्रकार का आनन्द आ रहा है, वह अनूठा ही है। उस मजे के सामने ये हमारी थकावटें नगण्य-सी रह जाती हैं। मस्तिष्क हमारा नई से नई युक्तियां सोचता है। एक-दूसरे से घना संघर्ष करना पड़ता है, जीत-हार की भावना अन्दर से हममें नव-

जीवन प्रदान करती रहती है। इसमें बड़ा ही निराला रस आता है। आपके कहने के अनुसार यदि मैं खेलने लगूं, तो खेल खेल ही न रहे वह नीरस हो जायगा। इस संघर्ष में ही जीवन को जीने का मजा आता है। कभी चकमा देना, कभी धक्का देकर नीचे पटकना कभी वाद-विवाद छिड़ जाना आदि-आदि कितने ही आनन्ददायक छींटे उड़ने लगते हैं। इस खेल में उससे तन और मन दोनों ही प्रफुल्लित हो जाते हैं।

महेन्द्र के इस प्रकार के कुशल तर्क से पंडितजी मन ही मन प्रसन्न होकर चले गये।

यही 'आंख-मिचौनी' तो हमारे साथ परमात्मा खेल रहे हैं। उनके हाथों में कभी हमें अत्यन्त निराशा का मुंह देखना पड़ता है और कभी सफलता आकर हमारे पांव चूम लेती है। कभी ऐसी-ऐसी उलझनें जीवन में आ खड़ी होती हैं, जो महीनों-महीनों हमें विह्वल किये रहती हैं। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, लाभ-हानि और मानापमान के नजारे इसी 'आंख-मिचौनी' के ही परिणाम हैं, जो परमात्मा और जीवात्मा में अनादि काल से खेली जा रही है।

इस 'आंख-मिचौनी' के खेल को और भी सजीव बनाने के लिए निर्गुण-निराकार परमात्मा सगुण-साकार भी हो जाते हैं। हमारे जैसा ही रूप बनाकर हमसे यह खेल खेलने लगते हैं। सर्व समर्थ तो वे होते ही हैं, उनके लिए हार-जीत कैसी ? क्योंकि वे हैं सिन्धु और हम हैं बिन्दु, परन्तु वे इस खेल को प्राणवन्त करने के लिए स्वयं हार जाते हैं, अपने को छू लेने देते हैं, आंखें भी बन्द करा लेते हैं, हमें पकड़ने का नाटक भी करते हैं। यही खेल-कूद तो भक्ति को सब प्रकार के दूसरे साधनों से सर्वोपरि बना देता है। भक्ति के सामने सारा कर्मकाण्ड फीका रह जाता है। अद्वैतोपासना में भी वह आनन्द नहीं आता, जो द्वैतभाव में होता है। भक्ति तत्व है ही द्वैत में, भक्त और भगवान, शिष्य और सद्गुरु, सेवक और स्वामी दोनों में आनन्ददायक खेल चलता है। अपने से आप ही आप कौन खेला करता है। खेल सदा दो में ही सम्भव है।

सन्त सद्गुरु जीवों का कल्याण 'आंख-मिचौनी' खेलते हुए ही तो कर देते हैं। कभी कभी ऐसी भेदभरी बात कहते हैं जिससे जीव असमंजस में पड़ जाता है कि वह करे तो क्या करे ? वे अपनी अलौकिक शक्तियों को इस प्रकार छिपाये रहते हैं, मानों वे हम जैसे साधारण पुरुष हों, परन्तु जीव बुद्धि उन्हें भांप नहीं सकती। वह मानवी बुद्धि कभी-कभी उन्हें सर्व साधारण सा समझने लगती है। परमात्मा की यह 'आंख-मिचौनी' नहीं तो और क्या है ? भगवान स्वयं इस सच्चाई को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं,
मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो,
ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
(गीता ७/२४)

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अद्वितीय, अविनाशी परम तत्वको न जानने के कारण मन-इन्द्रियों से परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्यकी भाँति जन्म लेने वाला और भौतिक देह धारण किया हुआ मान लेते हैं।

अविद्या की लपेट में आये हुए जीव विशुद्ध आनन्दघन ब्रह्म के निज रूपको पहचान नहीं पाते और उन्हें भी अपने समान साधारण कोटि का जानकर धोखे में रह जाते हैं। यह

वस्तुतः उनकी अपनी अहैतुकी कृपा होती है, जो वे अपनी अलौकिकता को छिपाकर हमारे साथ 'आंख-मिचौनी' का खेल बनाने के हेतु हम जैसे ही बन जाते हैं। इसका यह भाव नहीं कि वे अपनी सम्पूर्ण दिव्यतम शक्तियों को गवा बैठते हैं। नहीं वे केवल लौकिक पुरुष का स्वांग भरते हैं। होते वहीं हैं निर्गुण-निराकार नित्य एक रस ब्रह्म, परन्तु सारा कौतुक उनकी नाट्य-लीला होती है। श्रीकृष्ण भगवान अगले ही श्लोक में हमारे मनके भ्रम को काटते हुए पुनः कथन करते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य,
योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति,
लोको मामजमव्ययम् ॥
(गीता ७/२५)

श्रीभगवान स्पष्ट कहते हैं कि मैं अपने-को योग-माया के आवरण में लपेट लेता हूँ। इसलिए साधारण जन मुझे समझ नहीं पाते। वे समझने लगते हैं कि ये भी जन्म-मरण के अधीन हैं, परन्तु नहीं मैं अजन्मा और अविनाशी पुरुष हूँ।

यह है परमात्मा का ढंग हम जीवों से 'आंख-मिचौनी' का। श्रीसद्गुरुदेवजी ने कहा—ऐ 'आंख-मिचौनी' खेलने वाले जीव! तू जिसे ढूंढने निकला है वह सर्व व्यापक है, अलिप्त है और सदा ही तेरे अंग-संग है, तू उसे वन में खोजने के लिए क्यों चला है? वह तेरा निराकार खिलाड़ी ईश्वर हर घड़ी तेरे अन्दर ऐसे छिपा बैठा है, जैसे फूल में सुगन्ध और दर्पण में प्रतिच्छाया छिपी होती है। सद्गुरु तुझे आकर सत्य-सत्य बतलाते हैं कि वह प्रभु-सत्ता तेरे बाहर भी है और अन्दर भी। तू अपने अन्तर में जा, वहीं उसे खोज ले। बिना उसे प्राप्त किये तेरे भ्रम और संशय कटेंगे नहीं।

कैसा अटपटा खेल लगा दिया है उस परमात्मा ने! अपने भक्तों के साथ खेल खेले बिना उससे रहा नहीं जाता। ताली बजाता है और छिप जाता है। ऐसा कि युग-युग बीत जाते हैं, उसकी सुधि नहीं मिलती। सारा संसार उसी की तलाश में ही भटक रहा है और वह हमारी ऐसी व्याकुल दशा को देख-देखकर अन्दर ही अन्दर खिलखिला देता है।

एक प्रसंग है कि भगवान श्रीकृष्ण के पास महाराजा युधिष्ठिरजी गये और उनसे सविनय प्रार्थना की कि मैंने सारे उपाय कर लिए। अपने भाई दुर्योधन को समझा-समझा कर हार गया कि तू युद्ध न कर, लड़ाई करना अच्छा नहीं होता। परन्तु उसकी आंखों पर तृष्णा का ऐसा चश्मा लगा है, जो उतरने में नहीं आता, उसे समूचा राज्य लेने का हठ चढ़ा है। आप यदि राजदूत बनकर उसके पास चले जावें और उसे सन्मार्ग दर्शावें तो सम्भव है, वह किसी प्रकार का समझौता करना मान ले और युद्ध की बड़ी भारी विभीषिका टल जाय।

सोलह कला सम्पूर्ण भगवान भी धर्मपुत्र युधिष्ठिर का दूत बनकर उस कुटिल दुर्योधन के दरबार में जाने को उद्यत हो जाते हैं। महापुरुषों का आभूषण परोपकार ही है।

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः,
परोपकाराय वहन्तिनद्यः ।
परोपकाराय दुहन्तिगावः,
परोपकारायसतां विभूतिः ॥
—चाणक्य नीति

"वृक्ष सदा दूसरों के लिए ही फूलते और फलते हैं। नदियाँ औरों के लिए ही बहा करती हैं। गौएँ अपना दूध आप नहीं पिया करतीं। सन्त पुरुष भी अपनी दिव्य शक्तियों का प्रयोग परोपकार के लिए करते हैं :"

"महान पुरुष जो उपकार करते हैं उसका बदला नहीं चाहते भला, संसार पर जल बरसाने वाले बादलों का बदला किस तरह चुका सकता है।"

"हार्दिक उपकार से बढ़कर न तो कोई चीज इस संसार में मिल सकती है और न स्वर्ग में।"

"परोपकारी पुरुष उसी समय अपने को गरीब समझता है जबकि वह सहायता मांगने वाले की इच्छा को पूर्ण करने में असमर्थ होता है।"

सन्त तिरुवाबलावर का कथन है कि इस कलिकाल में भी संस्कारी आत्माएँ भगवान के साथ आँख मिचौनी खेलती हुई मिल जायेंगी। परन्तु इस खेल का पात्र बनने के लिए हृदय में सरलता हो, भक्तिभाव हो, अपने इष्टदेव के प्रति उत्कट अनुराग हो, उनके चरण कमलों में पूर्ण विश्वास हो—साथ ही उनकी अपनी कृपा हो तभी आनन्द का दिव्य रस छलछला उठेगा और प्रेमी का अन्त:करण जन्म-जन्मांतरों की मैल से रहित होकर अलौकिक प्रकाश से भर जायेगा। इस प्रकार की साध को पूरा करने के लिए आवश्यक है कि सन्त सत्पुरुषों की संगति प्राप्त की जाय—उनके चरण कमलों में विमल प्रेम बढ़ाया जाय। उनकी श्री आज्ञा में चलते हुए तथा निर्मल सेवा से अपने चित्त को प्रशान्त बनाते हुए उनकी नित्य प्रसन्नता प्राप्त कर लें। हमारा कर्त्तव्य है यह आँख-मिचौली का खेल सच्चिदानन्द घन अपने श्री गुरुदेवजी से ही चलायें और किसी से नहीं।

—० ध्यान ०—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

—योगसूत्र ३-२

धारणा में चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा है। यह अवस्था यदि २४ घण्टे तक रहे तो ध्यान होता है। यह ध्यान तीन प्रकार का होता है—(१) स्थूल, (२) ज्योति और (३) सूक्ष्म निर्गुण। (१) स्थूल —इष्टदेव का सगुण ध्यान, (२) ज्योति—परब्रह्ममय जीवात्मास्वरूपिणी कुण्डलिनी का ध्यान ज्योतिर्ध्यान है। (३) सूक्ष्म निर्गुण—कुण्डलिनी को जगाकर षटचक्र वेध करता हुआ उसके सहस्रार में लीन होना सूक्ष्म निर्गुण ध्यान है। (घेरण्ड संहिता उ० ७ श्लोक २१) (लययोग संहिता ध्यान वर्णनम् श्लोक १०)। ध्यान के प्रभाव से योगी का जीवात्मा जीव संज्ञा को त्यागकर परमात्मा में मिल जाता है। (विवेक चूड़ामणि, ईश्वर गीता)। परन्तु ध्याता, ध्यान और ध्येय का ज्ञान रहता है। साधक को अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अष्टसिद्धियों का वर्णन मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्; पातंजल योग-सूत्र, घेरण्ड संहिता आदि में पाया जाता है।

दिव्यता की अभिव्यक्ति

● विमला ठकार

'ज़िन्दगी' जीने के लिए है।

'आज' ही वास्तविक दिन है जीने के लिए। 'कल' का अस्तित्व (केवल मनुष्य के मन में है) मानसिक ही है; धरती पर उत्तरी दक्षिणी ध्रुवों की तरह 'कल' कोई तथ्य नहीं है।

चुनौती है आज अभी यहाँ वर्तमान क्षण में जीने की। यदि हम इस वर्तमान क्षण में जी नहीं पाते, तो वस्तुतः जीवन से दूर ही रहते हैं, जीने का अवसर ही खो देते हैं। इस तरह जिन्दगी को टाला नहीं जा सकता। यह सामने आये क्षण में सही ढंग से पूरा-पूरा जीना ही पहली चुनौती है।

वर्तमान क्षण से पृथक् कोई शाश्वती नहीं है, जिसे हम इन्द्रियों से स्पर्श कर सकें, मन से महसूस कर सकें या मन से भी आगे अपनी हस्ती में जिसका भान रहता हो। वर्तमान क्षण ही शाश्वती है। 'आज' एवं 'हररोज' का जीवन ही नित्यता का उन्मेष व घटक है। 'है' पन (वर्तमानता) ही दिव्यता की अभिव्यक्ति है।

इस वर्तमान से हम कैसे मिलें? निश्चय ही इन्द्रियों एवं मन-बुद्धि द्वारा ही वर्तमान जीवन से सम्पर्क होगा। इसलिए दूसरी चुनौती है, शरीर, मन, बुद्धि को भलीभाँति सक्षम, समर्थ, स्वच्छ, सुपुष्ट, लचीला, सजग, संवेदनशील बनाये रखना, हम शरीर का परिचय पायें, इसका क्रियाकलाप समझें, इसकी आवश्यकताओं की जतनपूर्वक पूर्ति करें, प्रेम से इसे संभालें। इस शरीर यन्त्र की उपेक्षा की जाये अथवा व्यर्थ के लाड़ लड़ाये जायें तो व्यक्त व दृश्य जगत का सही-प्रत्यक्षीकरण, सम्पर्क एवं सम्बन्ध बन नहीं पाता।

कहने, सुनने में जितनी सरल प्रतीत होती है, उतनी सरल बात यह नहीं है। शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध अधिकतर मन द्वारा होता है। जब भी जैसे भी बन पड़े प्रायः मन ही हमारे सभी कार्यकलाप निर्धारित करता है। क्रोध, भय, भोजन, निद्रा, विश्रांति या चैन, सुकून निर्भर करता है।

हमारे सामने चुनौती है कि शरीर, मन, बुद्धि की सार-संभाल व जतन इस रीति से करें, ऐसा आहार, वस्त्र, निद्रा, व्यायाम आदि शरीर को दें कि दिव्यता की अभिव्यक्ति का यह माध्यम ताजगीभरा सजीव बना रहे। योगी जीवन ही ऐसी दिव्यता की अभिव्यक्ति कराने की क्षमता रखता है।

'सत्य परमेश्वर है' यह समझ में न आये, तो सत्य सत्य तो है ही। सत्य की जीवन में खूब जरूरत है। सत्य के बिना जीवन शुष्क बन जाता है। सत्य जैसा समझ में आये। वैसा आचरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। भूलकर भी असत्य का मार्ग न पकड़ा जाये। इतनी जागृति रखें, तो सत्य ही परमेश्वर है, यह धीरे-धीरे समझ में आता जायेगा।"

—विनोबा

क्षमा का आदर्श

● श्री अरविन्द

चंद्रमा धीरे-धीरे बादलों में लुकता-छिपता निकल रहा था। वायु के साथ-साथ नदी नाचती, बल खाती जा रही थी। कहीं चांदनी छिटकी थी, कहीं अँधेरा छाया था। बड़ा ही सुन्दर दृश्य था।

चारों ओर ऋषियों के आश्रम थे। एक-एक आश्रम नन्दनवन को मात करता था। हरएक ऋषि की कुटिया फूल के पेड़ों और बेलों से घिरी थी। अद्भुत शोभा थी वहाँ की। ऐसी ही एक रात थी, जब चांदनी छिटकी हुई थी। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अपनी सह-धर्मिणी अरुन्धती से कह रहे थे—देवी ! ऋषि विश्वामित्र के यहाँ जाकर जरा-सा नमक भीख मांग लाओ।

इस बात से विस्मृत होकर अरुंधती ने कहा "यह कैसी आज्ञा दी आपने ? मैं तो कुछ भी समझ नहीं पाई ! जिसने मुझे सौ पुत्रों से वंचित किया..." कहते-कहते उनका गला भर आया। पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं, वह अपूर्व शान्ति का धाम हृदय की व्यथा से भर गया।

उन्होंने आगे कहा, "मेरे सौ बेटे ऐसी ही ज्योत्स्ना-शोभित रात्रि में वेद-पाठ करते-फिरते थे। मेरे सौ-के-सौ पुत्र वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ थे। मेरे उन सौ पुत्रों को नष्ट कर दिया, आप उसी के आश्रम से लवण-भिक्षा करनेके लिए कह रहे हैं ? मैं कुछ नहीं समझ पाती।"

धीरे-धीरे ऋषि के चेहरे पर एक प्रकाश आता गया। धीरे-धीरे सागर-गम्भीर हृदय से यह वाक्य निकला, "लेकिन, देवी, मुझे उससे प्रेम है।"

अरुंधती और भी चकरा गयीं। उन्होंने कहा, "आपको उससे प्रेम है तो एक बार 'ब्रह्मर्षि' कह दिया होता, इससे सारा जंजाल मिट जाता और मुझे अपने सौ पुत्रों से हाथ न धोने पड़ते।"

ऋषि के मुख पर एक अपूर्व आभा दिखाई दी। उन्होंने कहा, "मुझे उससे प्रेम है, इसलिए उसे 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहता, ब्रह्मर्षि नहीं कहता, इसीलिए उसके ब्रह्मर्षि होने की आशा है।"

आज विश्वामित्र क्रोधके मारे ज्ञान-शून्य हैं। तपस्या में उनका मन नहीं लग रहा। उन्होंने निश्चय किया है कि आज भी वशिष्ठ उन्हें ब्रह्मर्षि न कहें तो उनके प्राण ले लेंगे। अपना संकल्प पूरा करने के लिए वह हाथ में तलवार लेकर कुटी से बाहर निकले।

उन्होंने वशिष्ठ को उपर्युक्त सारी बात-चीत सुनली। तलवार की मूँठ पर से हाथ की पकड़ ढीली हो गई। सोचा, "आह ! क्या कर डाला मैंने ! बिना जाने कितना अन्याय कर डाला ! बिना जाने किसके निर्विकार चित्त को व्यथा पहुंचाने की कोशिश की !" हृदय में सैकड़ों बिच्छुओं के काटने की वेदना होने लगी। पश्चात्ताप से हृदय जल

उठा। दौड़े-दौड़े गये और वशिष्ठ के चरणों पर गिर पड़े।

कुछ देर तक मुँह से बोल न फूटे। अपने आपे में आये तो विश्वामित्र ने कहा, "क्षमा कीजिए, यद्यपि मैं क्षमा के अयोग्य हूँ" और कोई शब्द मुँह से न निकला। इधर वशिष्ठ ने क्या किया? दोनों हाथ पकड़कर उठाते हुए बोले, "उठो ब्रह्मर्षि, उठो।"

विश्वामित्र लज्जित हो गये। बोले, "प्रभो! क्यों लज्जित करते हैं?"

वशिष्ठ ने उत्तर दिया, "मैं कभी झूठ नहीं बोला करता। आज तुम ब्रह्मर्षि बन गये हो, आज तुमने अभिमान त्याग दिया है। आज तुमने ब्रह्मर्षि-पद पाया है।"

विश्वामित्र ने कहा, "आज मुझे ब्रह्म-विद्या दान दीजिए।"

वशिष्ठ बोले, "अनंतदेव (शेषनाग) के पास जाओ, वे ही तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देंगे।"

विश्वामित्र वहाँ जा पहुंचे, जहाँ अनंतदेव पृथ्वी को मस्तक पर रखे हुए थे। अनंतदेव ने कहा, "मैं तुम्हें ब्रह्म-ज्ञान तभी दे सकता हूँ जब तुम इस पृथ्वी को अपने सिर पर धारण कर सको, जिसे मैं धारण किये हुए हूँ।"

तपोबल के गर्व से विश्वामित्र ने कहा, "आप पृथ्वी को छोड़ दीजिए, मैं उसे धारण कर लूँगा।"

अनंतदेव ने कहा, "अच्छा, तो लो, मैं छोड़े देता हूँ।"

और पृथ्वी घूमते-घूमते गिरने लगी।

विश्वामित्र ने कहा, "मैं अपनी तपस्या का फल देता हूँ। पृथ्वी! रुक जाओ।

फिर भी पृथ्वी स्थिर न हो पाई।

अनंतदेव ने उच्च स्वरमें कहा, 'विश्वामित्र पृथ्वीको धारण करनेके लिए तुम्हारी तपस्या काफी नहीं है। तुमने कभी साधु-संग किया है? उसका फल अर्पण करो।'

विश्वामित्र बोले, "क्षणभर के लिए वशिष्ठ के साथ रहा हूँ।"

अनंतदेव ने कहा, 'तो उसीका फल देदो।'

विश्वामित्र बोले, "अच्छा, उसका फल अर्पित करता हूँ।"

और धरती स्थिर हो गई।

तब विश्वामित्र ने कहा, "देव! अब मुझे आज्ञा दें।"

अनंतदेव ने कहा, "मूर्ख विश्वामित्र! जिसके क्षणभर के सत्संग का फल देकर तुम समस्त पृथ्वी को धारण कर सके, उसे छोड़ कर मुझसे ब्रह्मज्ञान मांग रहे हो?"

विश्वामित्र क्रुद्ध हो गये। उन्होंने सोचा, "इसका मतलब यह है कि वशिष्ठ मुझे ठग रहे थे।"

वे तेजी से वशिष्ठ के यहाँ जा पहुंचे और बोले, "आपने मुझे इस तरह क्यों ठगा।"

वशिष्ठ बोले, "अगर मैं उसी समय तुम्हें ब्रह्मज्ञान दे देता तो तुम्हें विश्वास न होता। इस अनुवाद के बाद तुम विश्वास करोगे।"

विश्वामित्र ने वशिष्ठ से ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पाई।

भारत में ऐसे-ऐसे ऋषि, ऐसे-ऐसे साधु थे। हमारे यहाँ क्षमा का यह आदर्श था। तपस्याका ऐसा बल था, जिसके द्वारा समस्त पृथ्वी को धारण किया जा सके। भारत में फिर से ऐसे ऋषि जन्म ग्रहण कर रहे हैं, जिनकी प्रभा के आगे प्राचीन ऋषियों की ज्योति फीकी होगी, जो भारत को फिर प्राचीन गौरव की अपेक्षा अधिक गौरवमय स्थान पर प्रतिष्ठित करेंगे।

गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय

● सुश्री रुकमिणी देवी

गीता में योग विचार—कर्म, भक्ति और ज्ञान मोक्ष के तीन साधन हैं। दूसरे रूप में योग तीन प्रकार का है—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। योग शब्द 'युज' धातु से बना है जिसका अर्थ है मिलना या सम्बन्ध स्थापित करना। गीता में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का सिद्धान्त ही योग है। समस्त शास्त्रों का मन्थन कर अमृतमयी गीता का आविर्भाव हुआ है। यह अनन्त भावों का अथाह सागर है, इस रत्नाकार में गोता लगाने वाले को किसी न किसी रत्न की अवश्य प्राप्ति होती है। यही कारण है कि विभिन्न महात्माओं ने अपनी मनीषा के अनुसार गीता में भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन किया है, उदाहरणार्थ-निवृत्ति मार्ग के पक्षपाती श्री शङ्कराचार्य ने गीता में ज्ञानयोग का, भक्तिमार्गी श्री रामानुजाचार्य ने भक्तियोग का तथा लोकमान्य तिलक प्रभृति विद्वानों ने गीता में कर्मयोग का प्रतिपादन किया है। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि साध्य एक है—मोक्ष, तो विभिन्न साधनों के कल्पना की क्या आवश्यकता है? उत्तर स्पष्ट है—मनुष्य की प्रकृति में भेद, कोई निवृत्ति मार्ग को चाहता है तो कोई प्रवृत्ति मार्ग। इस हेतु गीता की निवृत्तिमूलक व प्रवृत्तिमूलक आदि व्याख्यायें की गई हैं। लेकिन मोक्ष के तीनों ही मार्ग सर्वश्रेष्ठ व समानफलदायक हैं। समन्वय से पूर्व इनका पृथक-पृथक वर्णन यहाँ नितान्त आवश्यक है, परन्तु लेख के विस्तार भय से तीनों योगों का अति संक्षिप्त रूप ही यहाँ प्रस्तुत है।

गीता में कर्मयोग—'कर्म' एक गतिशील व्यापार है। गीता के कर्मयोग के भाव बड़े गुरु व गम्भीर हैं। स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म की गति रहस्यमय है-'गहना कर्मणोगतिः (गीता ४/१६)। कर्म, अकर्म के भँवर में पड़े हुए शोक-मोह से ग्रसित अर्जुन को जगदात्मा श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का पाठ पढ़ाया। अतः उन्होंने सम्पूर्ण कर्मयोग के तीन सिद्धान्त अर्जुन के समक्ष रखे।

अहङ्कार रहित **कर्म-कर्मयोग है**—किसी कार्य की पूर्ति के पाँच कारण होते हैं—अधिष्ठान (देह), कर्त्ता (जीवात्मा), करण (नाना प्रकार की इन्द्रियां), चेष्टा और दैव (ईश्वरीय शक्ति)—गीता १८/१४। इन पँच हेतुओं के स्थान पर केवल अपने द्वारा क्रिया का सम्पादन मानना ही कर्त्तापन का अभिमान है। कर्मयोगी को सर्वप्रथम अहंकार रहित होकर कर्म करना चाहिए।

स्वधर्म का आचरण कर्मयोग है—सभी वर्णों के अपने-अपने कुछ निश्चित स्वकर्म होते हैं। जो उनके स्वाभाविक या स्वधर्म कहलाते हैं। स्वकर्मों का आचरण मनुष्य का पुनीत कर्तव्य है भगवान कहते हैं कि अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है। स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धि लभते नर:। गीता १८/४५

निष्काम कर्म कर्मयोग है—कर्म के दो प्रकार हैं—(१) सकाम-कामनाओं से प्रेरित (स्वार्थयुक्त) (२) निष्काम-कामनाओं का सर्वथा अभाव (तृष्णारहित)। निष्काम कर्म कर्म-सन्यास नहीं वरन कर्म-फल का त्याग है पुन: निष्काम कर्म में दो भाव निहित है—प्रथम आसक्ति का त्याग द्वितीय सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर अर्पण करना। जो मनुष्य कर्मों के फल को ईश्वर अर्पण करता है वह भगवत प्राप्ति रूप शांति को प्राप्त करता है और सकामी पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है। (गीता ५/१२) इसलिए निष्काम कर्मयोग उत्तम है।

गीता में भक्तियोग—भक्ति शब्द 'भज' धातु से बना है जिसका अर्थ है भजना या सेवा करना। भक्ति या सेवा के द्वारा भगवान से सम्बन्ध स्थापित करने का नाम भक्ति योग है। सम्पूर्ण भक्ति के तीन चरण है।

ईश्वर शरणागति—यह श्रद्धा विश्वास से जन्य है। भक्त अपने अहंकार का परित्याग करके भगवान को परम आश्रय, परमप्राप्य व अपना भर्ता, प्रेरक रक्षक मानकर उनके चरणों में आत्म-समर्पण करके सदैव के लिए उन पर निर्भर व निर्भय हो जाता है। शरणागत पर भगवान असीम अनुकम्पा करते हैं। जब अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम। (गीता २/७) अर्थात् मैं आपका शरणागत शिष्य हूँ अतएव आप मुझे शिक्षा दीजिए। तो भगवान कृष्ण कहते हैं और अमृतमयी गीता के सभी अनमोल रत्न अर्जुन को दे देते हैं।

अनन्यचित्त—मनसा, वाचा, कर्मणा प्रभु का ही नाम, गुण, लीला, प्रभाव, श्रवण, कीर्तन, मनन आदि करना ही अनन्यचित्त है इस प्रकार भक्त की हर क्रिया भगवान के लिए हो जाती है। गीता में संकेत है-कि जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही मुझ परमेश्वर को स्मरण करता है, ऐसे निरन्तर मुझमें युक्त योगी को मैं सदा सुलभ हूँ। (गीता ८/१४)।

अनन्य भाव—अनन्यचित्त व्यवहार से भक्त अनन्य भाव को प्राप्त होता है। उसे सर्वत्र भगवान दृष्टिगोचर होते हैं। इसका महत्व श्रीकृष्ण भगवान प्रकट करते हैं—जो मुझे सबमें देखता है और सब कुछ मुझमें स्थित देखता है वह मेरे लिए और मैं उसके लिए कभी अदृश्य नहीं होता। (गीता ६/३०) यही भक्ति की पराकाष्ठा है।

गीता में ज्ञान योग—यथार्थ अनुभव को विशुद्ध प्रमा अथवा ज्ञान कहते हैं। इसमें विपर्यय का बीच मात्र नहीं रहता। ज्ञान का अर्थ प्रकाश से है। ज्ञानी को गीता में समदर्शी कहा गया है क्योंकि ज्ञानयोग की सबसे बड़ी विशेषता समत्व योग है। समत्व योग के तीन स्वरूपों का गीता में वर्णन किया गया है।

आत्मगत समत्व—ज्ञानी आत्म स्वरूप में रमण करता है। आत्मा परमब्रह्म का अंश होने से ब्रह्म स्वरूप ही है। ब्रह्म ही आत्मा व आत्मा ही ब्रह्म है तत्वमसि। संसार में सब कुछ आत्मरूप है, ब्रह्मस्वरूप है ऐसे ज्ञान से योगी ब्रह्म लाभ प्राप्त करता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो आत्मा में रमण

करता है; आत्मा में ही सुख पाता है। आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह ब्रह्मभूत योगी शान्त ब्रह्म के पद को प्राप्त होता है। (गीता ५/२४

वस्तुगत समत्व—ब्रह्मभूत योगी को सारी सृष्टि ब्रह्ममय दिखलायी देती है। ब्रह्म सत्ता ही सम्पूर्ण वसुधा में व्याप्त है। जो कुछ है वह ब्रह्म ही है। श्री भगवान कहते हैं कि ज्ञानी विद्या विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी होते हैं (गीता ५/१८) यही वस्तुगत समत्व है।

गुणातीत समत्व—यह सुख दुःख से परे की अवस्था है। गुण गुणों में वर्तते हैं, ऐसे ज्ञान से ज्ञानी स्वछन्द विचरता है। गीता का संकेत ज्ञानी सुख दुख, मृत्तिका एवं काञ्चन प्रिय-अप्रिय तथा निन्दा स्तुति सबमें समान दृष्टि धीर पुरुष है, वह मान-अपमान, शत्रु और मित्र सबमें सम है और सभी उद्यमों का त्यागी है। (गीता १४/२४-२५) यही गुणातीत है।

गीता में योग समन्वय—गीता तीनों योगों का प्रतिपादन ही नहीं करती वरन समन्वय भी करती है। स्वयं योग-योगेश्वर अखिल लोक पावन जगदात्मा श्रीकृष्ण भगवान ने तीनों योगों का समन्वय एक ही श्लोक में बहुत सुन्दर व सरल ढंग से इस प्रकार किया है—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(गीता १५/५)

अर्थात् जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिसने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है, निरन्तर परमात्मा के स्वरूप में जिसकी स्थिति है, सम्पूर्ण कामनायें नष्ट हो चुकी हैं, जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से मुक्त हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं। इस श्लोक में शब्दों की क्रम व्यवस्था श्रीभगवान ने इस प्रकार की है। जो योगके आरम्भ से लेकर विकास की ओर अग्रसित होती हुई अन्त में अपने लक्ष्य को प्राप्त होती हैं और प्रत्येक शब्द तीनों योगों का सूचक है और समन्वय भी करता है। जो निम्न प्रकार है—

कर्म में ज्ञान व भक्ति का समन्वय—सर्ग-दोष—कर्मयोगी अपनी साधना का आरम्भ मान और मोह से रिक्त होकर करता है। लेकिन जीव का मान-मोह तभी नष्ट होता है, जबकि यथार्थ ज्ञान के अनुशीलन से वह यह जान लेता है कि किसी भी कार्य-क्षेत्र में उसका प्रभुत्व नहीं, क्योंकि जीवात्मा तो परमात्मा का अंश है ही, शरीर व इन्द्रिय भी प्रकृति-प्रसूत है। प्रकृति ईश्वर की सर्वशक्ति है। प्रत्येक इन्द्रिय के पीछे तत्-तत् देवताओं की शक्ति है, जैसे नेत्र ज्योति के पीछे सूर्य का प्रकाश कारण है। घ्राण शक्ति के पीछे वायु देवता आदि कारण हैं। इन देवताओं में भी परमात्मा का ही प्रकाश है। सर्वत्र प्रभु-सत्ता है तो किसी भी कार्य-क्षेत्र में उसका कर्त्तापन का अभिमान मिथ्या है। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन से कर्मयोगी में प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और मोह का भी नाश होता है। गर्व का मूल कारण मोह ही है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य यहाँ आता है तो कुछ समय ही रह पाता है और अन्त में चला जाता है। इस मध्यकाल में वह उन सांसारिक विषय-वस्तुओंमें मोह कर बैठता है, जो अपूर्ण है और अपना सम्पूर्ण जीवन इनकी प्राप्ति में ही व्यतीत कर देता है और स्वयं

को इनका स्वामी समझ बद्ध जीव मिथ्या अभिमान व मोहसे तृप्त होता है। ज्ञान द्वारा ही इस भ्रम का आवरण टूट सकता है कि जो स्वयं नश्वर है, अपूर्ण, अस्थायी व क्षणिक है, उनकी प्राप्ति से चिरस्थायी सुख व शांति कदापि सम्भव नहीं। अब जीव का मान के साथ-साथ मोह भी नष्ट हो जाता है 'निर्मान मोहा'। मोह में राग-द्वेष की भावना निहित है। राग-द्वेष से मन में कामना का विकार उत्पन्न होता है। हम कामना से प्रेरित होकर फलाकांक्षा के वशीभूत कर्म करते हैं और उसका कुशलाकुशल फल भी भोगते हैं। पुनः कामना से आक्रान्त कर्म करते व फल भोगते हैं। इस प्रकार कर्म व कर्मफल की शृंखला चल पड़ती है और आवागमन लगा ही रहता है, क्योंकि हम जो भी कर्म करते हैं। कर्म तो करने पर समाप्त हो गया, परन्तु अधिकांश कर्मोंका फल बादमें मिलता है। कारण कि पूर्वकृत कर्मों का फल भोगते हुए आयु पूर्ण हो जाती है और नवीन कर्मों के फल के लिए पुनर्जन्म होता है। कोई भी कर्मफल से पहले समाप्त नहीं होता, इसका रहस्य है कि हम जो भी कर्म करते है, कर्म तो करने पर समाप्त हो गया, परन्तु कर्म का संस्कार अदृष्ट रूप में रह जाता है, इस अदृष्ट के आधार पर फल का आयोजन होता है। अदृष्ट का नियामक ईश्वर है। अतः फल ईश्वर के हाथ में है। श्री भगवान कहते हैं कि तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं (गीता २-४७)। अतः उन्होंने कर्म व कर्मफल की शृंखलाके उच्छेदन के लिए दो उपाय बताये हैं—आसक्ति का त्याग और कर्म का ईश्वर के अर्पण करना। जिस प्रकार भुने हुए बीज में वपन-शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार तृष्णा रहित कर्म में बन्धन की शक्ति नहीं होती, क्योंकि बन्धन के मूल कामना का इसमें सर्वथा अभाव होता है। गीता में भगवान का आदेश है—

> तस्मादसक्तः सततं,
> कार्यं कर्म समाचार।
> असक्तो ह्याचरन्कर्म,
> परमाप्नोति पूरुषः॥
> (गीता ३/१९)

अर्थात् कर्मफल में अनासक्त भावसे कर्तव्य की भाँति कर्म करना चाहिए। निःसन्देह अनासक्त आचरण से मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त करता है। दूसरी उक्ति कि—ईश्वर अर्पण कर्म कर। इसका महत्व भगवान ने गीता में बिल्कुल स्पष्ट किया है :

> ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्ग,
> त्यक्त्वा करोति यः।
> लिप्यते न स पापेन,
> पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
> (गीता ५/१०)

अर्थात् जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह जल में कमलपत्र के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता। यहाँ भगवान ज्ञान युक्त कर्म में भक्ति का भी योग कर रहे हैं, क्योंकि ईश्वर अर्पण कर्म वही कर सकता है जो भगवान का प्रिय भक्त हो, तभी कर्मयोगी भक्ति का आश्रय लेकर आसक्ति पर विजय प्राप्त कर सकता है—जित संग दोषा। कर्मयोगी निष्काम कर्म के निर्मल पुष्पों द्वारा भगवान की पूजा करता है। कर्म करते हुए उसे निरन्तर ईश्वर का ध्यान बना रहता है अध्यात्मनित्या। वह स्वार्थयुक्त नहीं परार्थ के लिए कर्म करता है। उसकी धारणा है—

सफल जीवन हो परमात्मा,
वर जो मैं तुमसे पाऊँ।
पराई आग में कूदूँ,
पराई मौत मर जाऊँ॥

परोपकार की भावना से कर्मयोगी इतना ओतप्रोत रहता है कि उसकी सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं–विनिवृत्तकामा। उपर्युक्त सभी व्यवहार से वह सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है। सुख-दुःख उसे विचलित नहीं कर सकते–द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख-दुःखसंज्ञै। अन्त में वह अपने उद्देश्य व लक्ष्य में सफल होता है और परमात्मा के अविनाशी पद को प्राप्त होता है (पदमव्ययंतत्)।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कर्म में ज्ञान व भक्ति का आदि से अन्त तक समावेश है शुष्क कर्म से मोक्ष असम्भव है। ज्ञान से कर्म-अकर्म की पहचान होती है, भक्तियुक्त कर्मयोगी के कर्मों का भार भगवान स्वयं वहन करते हैं और सायुज्य मुक्ति देकर आवागमन के अनवरत चक्र को वे सर्वदा के लिए अन्त कर देते हैं। अतः भगवान का मूल उपदेश ज्ञान व भक्तियुक्त कर्म है।

भक्ति में ज्ञान व कर्म का समन्वय–भक्ति-योग–इस पथ का अनुगामी भी अपनी साधना का आरम्भ मान और मोह से शून्य होकर करता है। सर्व प्रथम वह अपने अभिमान का परित्याग करके ईश्वर शरणागति ग्रहण करता है और गीता का उपदेश अर्जुन ईश्वर शरणगति के कारण ही प्राप्त करता है गीता के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि–

सर्वधर्मान्परित्यज्य,
मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो,
मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८/६६)

अर्थात् सभी धर्मोंको त्यागकर तू मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर। स्पष्ट है कि भक्तों के उद्धार के लिए भगवान कृत संकल्प हैं और भक्त भी भगवान के अनुग्रह व प्रेम को पाने के लिए अपना सर्वस्व उनके श्रीचरणों में समर्पित कर देता है, परन्तु इस आत्मसमर्पण की भावना तब ही जाग्रत होती है, जब जीव को स्वयं का ज्ञान होता है। स्वयं अपनी इच्छा की पूर्ति करने की शक्ति जीव में नहीं है। परमात्मा ही सर्वसमर्थ व वाञ्छाकल्पतरु हैं, जीव अणु है, भगवान विभु हैं, जीव अपूर्ण है, भगवान पूर्ण हैं। प्रभु का अंश होने के कारण जीवात्मा ससीम है, परमात्मा असीम है। अपूर्णता पूर्णता के अधीन है, परमात्मा से ऐक्य हो जाने पर ही जीव पूर्णत्व प्राप्त कर सकता है। परमात्मा से भिन्न अन्यत्र शांति नहीं, अंग-अंगी में ही शांति-लाभ कर सकता है। इस प्रकार के अनुबोधन से ही श्रद्धा भाव पाकर आत्म-समर्पण की भावना उमड़ती है और मान का त्याग होता है। स्पष्ट है कि भक्ति में ज्ञान का योग है। अब भक्त अनन्यचित्त होकर भक्ति में लीन होता है, प्रभु का नाम, गुण, लीला, श्रवण, कीर्तन, मनन आदि में भक्त इतना अनुरक्त रहता है कि उसे स्वयं की शुधि नहीं रहती।

भंग- मसूड़ी सुरापान उतर जाय प्रभात।
नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात॥

प्रभु प्रेम में अनुरक्त भक्त का भगवान को पाकर त्रिलोकी की अन्य सभी वस्तुएँ तुच्छ लगती हैं। अतः मान के साथ मोह भी नष्ट हो जाता है, निर्मानमोहा। इसीलिए भगवान अर्जुन से कहते हैं–

मन्मना भव मद्भक्तो,
मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैव-

मात्मानं मत्परायणः ॥

(गीता ९/३४)

अर्थात् तू मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार मेरी शरण हुआ आत्मा को मेरे में एकीभाव करके तू मुझको ही प्राप्त होगा। इस प्रकार के आचरण से भक्त सहज ही आसक्ति पर विजय प्राप्त कर लेता है- जित संगदोषा। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति संसार में नहीं, संसार के सृष्टा में ही संलग्न रहती है, वह निरन्तर प्रभु-चिन्तन में और उनके ही रूप में स्थित रहता है, आध्यात्मनित्या। लेकिन भगवान भावना भावित कर्मसे अछूता नहीं रहता। वह सभी कर्म भगवदर्थ करता है मदर्थ नहीं, क्योंकि मदर्थ में ममता अवश्य होगी। भक्त भी ज्ञानी के समान समदर्शी है, सबके प्रति उदार है।

अपनी फिक्र न कुछ करें प्रभु प्रेम के दास।
सुई नंगी खुद रहे और सबका सीये लिबास ॥

कर्मयोगी के समान भक्त की स्वयं की सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं-विनिवृत्त-कामा। परोपकार की भावना भक्त के मन में ओत-प्रोत रहती है, वह सभी में ईश्वर-दर्शन करता है। भक्त मोक्ष तक की इच्छा नहीं करता, क्योंकि उसे मोक्ष नहीं, भगवान प्रिय हैं। सुख-दुःख को भी भगवान की कृपा दृष्टि मान वह लाभ-हानि आदि सभी अनुकूल परिस्थितियों में सर्वदा सन्तुष्ट रहता है तथा द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है और परमात्मा में ऐक्य प्राप्त कर उनके अविनाशी पद को प्राप्त करता है।

संतुष्टः सततं योगी,

यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो,

मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

(गीता १२/१४)

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में उपरोक्त सभी विशेषताओं का समर्थन व महत्त्व प्रकट करते हुए कहा है कि ऐसा भक्त ही मुझे प्रिय है। भक्ति-मार्गकी यही विशेषता है कि आदि से अन्त तक कर्म व ज्ञान का पूर्ण समावेश है। बिना ज्ञान के कर्म नहीं और कर्म के बिना भक्ति नहीं। स्पष्ट है कि भक्ति में ज्ञान व कर्म का रस मिश्रित है। भक्त केवल कर्म ही नहीं अपितु स्वयं को भी ईश्वर अर्पण करता है, उसकी हर क्रिया ईश्वर के लिए है। अतः भगवान का मुख्य उद्देश्य ज्ञान, कर्म युक्त भक्ति है। भक्ति के कारण भगवान निर्गुण, निराकार से सगुण, साकार बन जाते हैं। अवतार भक्तियोग की आधार-शिला है।

ज्ञान में भक्ति व कर्म का समन्वय— ज्ञानयोग—इस मार्ग का पथिक भी अपनी साधना का आरम्भ मान और मोह के त्याग से करता है। मिथ्या अभिमान और मोह की जड़ अज्ञान है। जड़ प्रकृतिके स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों का उपभोग करते-करते पराशक्ति स्वरूप जीव को अपने यथार्थ दिव्य चित्त तथा बुद्धि का विस्मरण हो जाता है। इस विस्मृति के कारण जीवात्मा जड़ प्रकृति (माया) के प्रभाव में आता है। माया से उत्पन्न मिथ्या अभिमान व मोह के प्रभाव में वह सोचता है—"मैं पञ्च-भौतिक तत्व हूँ और जड़ पदार्थ मेरे हैं।" यही अज्ञान है। ज्ञान द्वारा माया का आवरण हट जाता है जीवात्मा को अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूप की फिर से स्मृति हो जाती है और मान-मोह का

बांध टूट जाता है। परब्रह्म का स्वरूप ही आत्म रूप है। संसार में जो भी दृश्यमान है माया है, मृग-तृष्णा है, स्वप्न सृष्टि सदृश है। यथार्थ में सच्चिदानन्द ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, कण-कण में ब्रह्मसत्ता व्याप्त है। ब्रह्म एक है शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। संसार का नानात्व मिथ्या है, एकत्व ही सत्य है। आत्मा ही ब्रह्म व ब्रह्म ही आत्मा है (तत्वमसि)। यही ज्ञानी का यथार्थ ज्ञान है। ज्ञानी के लिए भेद मिथ्या दृष्टि है, अभेद दृष्टि द्वारा ज्ञानी का मान और मोह निर्मूल हो जाता है (निर्मानमोहा)। ज्ञानी समदर्शी होता है, क्योंकि वह आत्म-ज्ञानी है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं
सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा
सर्वत्र समदर्शनः॥
—गीता ६/२९

अर्थात्—जो आत्मा को सब भूतों में और सम्पूर्ण भूतों को आत्मामें देखता है, वह आत्मज्ञानी सबमें समान भाव से देखने वाला है। परन्तु भक्ति का संग किये बिना आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। ज्ञान बुद्धि प्रसूत है, किन्तु आत्मज्ञान केवल बुद्धि से सम्भव नहीं। बुद्धि तर्क-वितर्क से घिरी रहती है और वह सच्चिदानन्द सर्व तर्क जालों से परे है। परमात्मा बुद्धि का विषय नहीं, वह तो आस्था या विश्वास का विषय है। परन्तु बुद्धि हमारे विश्वास को सुदृढ़ करती है। श्रद्धा-विश्वास का स्थान बुद्धि से ऊँचा है। पाश्चात्य दर्शन के प्रसिद्ध दार्शनिक सन्त एन्सैल्म (Saint Anselm) ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—'हे प्रभु! मैं तेरे अपार स्वरूप की उपलब्धि के लिए बुद्धि का सहारा लेने का साहस नहीं करता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि हमारी बुद्धि इस कार्य के लिए समर्थ नहीं। परन्तु मेरा हृदय जिसमें अनुरक्त है उसे मैं समझना चाहता हूँ। मैं इसलिए नहीं समझना चाहता कि मैं विश्वास करूँ, वरन मैं विश्वास करता हूँ जिससे समझ सकूँ'। मैं अपने 'विश्वास' को भी विश्वास के बिना समझ नहीं सकता।' अतः विश्वास प्रथम है श्रद्धा-विश्वास के अभाव में बुद्धि शुद्ध आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती। श्रद्धा-विश्वास भक्ति का मूल है। जहां श्रद्धा-विश्वास होता है वहां प्रेम की गरिमा होती है और विशुद्ध प्रेम से भगवान बुद्धि में विशेष योग (तत्वज्ञान योग) देते हैं। इस कथन की पुष्टि योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान गीता में इस प्रकार करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां
भजतां प्रीतीपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं
येन मामुपयान्ति ते॥
—गीता १०/१०

इस श्लोक में स्पष्टतः सिद्ध है कि बुद्धियोग (तत्वज्ञान रूप योग) उसीको प्राप्त होती है जो भगवान का प्रीतिपूर्वक निरन्तर स्मरण करता है। अतः आत्मज्ञान के लिए भक्ति में प्रवेश करना पड़ता है, क्योंकि विश्वास भक्ति का मूल है, एक अभिन्न अंग है। ऐसे आत्मज्ञान को पाकर ज्ञानी विषयों का संग नहीं करता और आसक्ति पर सहज ही विजय प्राप्त कर लेता है (जितसंगदोषाः)। आत्मज्ञानी की बुद्धि स्थिर होती है, वह आत्म-परमात्म रूप में स्थित होता है अध्यात्मनित्या। स्थितप्रज्ञ होने के कारण ज्ञानी की

सम्पूर्ण कामनायें नष्ट हो जाती है विनिवृत्त-कामा। आत्मरमणीय ज्ञानी को कुछ पाना शेष नहीं रहता, क्योंकि वह अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानी के लिए कर्म-निषेध है। कर्म न करने पर तो अकर्मण्यता का दोष आता है और बुद्धि मलीन होती है। ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है (गीता ३/३३) केवल ज्ञान से मोक्ष सम्भव नहीं, ज्ञान को आचरण में लाना पड़ता है। महाभारत में दुर्योधन का कहना है कि मुझे धर्म का ज्ञान है, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं। मुझे अधर्म का भी ज्ञान है, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं। 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः'। ज्ञान को व्यवहार में लाने पर ही आत्म-शुद्धि होगी, तभी अधर्म में प्रवृत्तियां व धर्म में निवृत्तियां शान्त होंगी। गीता के ५/१० वें श्लोक में कहा गया है कि योगीजन आसक्ति को त्याग शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा भी केवल आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। एक स्थान पर तो श्रीकृष्ण भगवान ने स्पष्ट रूप से आदेश दिया है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्त
श्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
—गीता ३/२५

अर्थात्—जिस प्रकार फल में आसक्त अज्ञानी जन कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानीजन अनासक्त भाव से लोक शिक्षा के लिए कर्म करें। अतः ज्ञान में भक्ति के साथ-साथ कर्म का भी समावेश है। शुष्क ज्ञान से सफलता तो आकाश-कुसुम व वन्ध्यापुत्र के समान है। तृष्णा रहित ज्ञान युक्त कर्म से ज्ञानी तृष्णा-राग-भय व क्रोध से मुक्त होकर द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है। क्योंकि गुणातीत ही आत्म ज्ञानी होता है वह सुख दुःख, हानि-लाभ सबमें समान है और अन्त में तो भगवान समन्वय के श्लोक में कह ही रहे हैं कि जो उपरोक्त सभी गुण वाला है वे ज्ञानी ही उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं। अतः भगवान का मूल उपदेश भक्ति कर्म युक्त-ज्ञान है।

विशेष विचार—उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण में स्पष्ट किया है कि ज्ञान भक्ति व कर्म का अभिनन्दन करता है। कर्म भी ज्ञान व भक्ति की अपेक्षा रखता है व भक्ति भी ज्ञान कर्म से अपेक्षित है। प्रत्येक में अन्य दो भाव भी निहित है। अन्त में तीनों मार्ग मिलकर एक हो जाते हैं। तीनों एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य चिन्तनशील, भावुक और सक्रिय तीन प्रकार के होते हैं। अतः उनके लिए सैद्धान्तिक मार्ग, भावनात्मक मार्ग और व्यवहारिक मार्ग बतलाये गये हैं। शास्त्रों में अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे जनक आदि महापुरुषों ने निष्काम कर्म से ही परम-सिद्धि प्राप्त की। शबरी, प्रह्लाद और मीरा-बाई आदि भक्ति प्रवरों ने भी भक्ति द्वारा भगवान को प्राप्त किया और नामदेव, शुकदेव आदि आत्म ज्ञानियों ने भी ईश्वर प्राप्ति की। गीता का योग समन्वय तर्क शास्त्र के द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है जो युक्ति संगत भी है और न्याय संगत भी।

महाभारत-दर्शन—

दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ श्रेष्ठता

प्राचीन काल की बात है, भगवान वशिष्ठ ने लोक-पितामह ब्रह्माजी से पूछा—प्रभो ! दैव और पुरुषार्थ में कौन श्रेष्ठ है ?

राजन् ! तब कमलजन्मा देवाधिदेव पितामह ने मधुर स्वर में युक्तियुक्त सार्थक वचन कहा ।

मुने ! बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है, अंकुर से पत्ते होते हैं । पत्तों से नाल, नाल से तने और डालियाँ होती हैं । उनसे पुष्प प्रकट होता है । फूल से फल लगता है और फल से बीज उत्पन्न होता है और बीज कभी निष्फल नहीं बताया गया है ।

बीज के बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीज के बिना फल भी नहीं लगता । बीज से बीज प्रकट होता है और बीज से ही फल की उत्पत्ति मानी जाती है ।

किसान खेत में जाकर जैसा बीज बोता है, उसी के अनुसार उसको फल मिलता है । इसी प्रकार पुण्य या पाप, जैसा कर्म किया जाता वैसा ही फल मिलता है ।

पुरुषार्थ खेत है और दैव को बीज बताया गया है । खेत और बीज के संयोग से ही अनाज पैदा होता है ।

कर्म करने वाला मनुष्य अपने भले या बुरे कर्म का फल स्वयं ही भोगता है । यह बात संसार में प्रत्यक्ष दिखायी देती है ।

पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्य के अनुसार प्रतिष्ठा पाता है, परन्तु जो अकर्मण्य है वह सम्मान से भ्रष्ट होकर घाव पर नमक छिड़कने के समान असह्य दुःख भोगता है ।

इस जगत् में पुरुषार्थ करने से स्वर्ग, भोग, धर्म में निष्ठा और बुद्धिमत्ता—इन सब ही उपलब्धि होती है ।

नक्षत्र, देवता, नाग, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी पुरुषार्थ करके ही मनुष्य लोक से देवलोक को गये हैं ।

जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं कर सकते ।

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है, परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता ।

प्रबल पुरुषार्थ करने से पहले का किया हुआ भी कोई कर्म बिना किया हुआ-सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल प्रदान करता है । इस तरह पुण्य या पाप कर्म अपने फल को नहीं दे पाते हैं । दैव पुरुषार्थ को ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है ।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, JULY, 1990

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर)
आगरा ।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री
1925
सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी
श्री एम. डी. [illegible] सरकारी वकील
का मकान गणेशपुरा मुरैना म. प्र.

हम अपने को पूर्ण और पवित्र बनाएँ

मनुष्य नियमों को बनता है या नियम मनुष्यों को बनाते हैं ? मनुष्य रुपया पैदा करता है या रुपया मनुष्यों को पैदा करता है ? मनुष्य कीर्ति और नाम पैदा करता है या कीर्ति और नाम मनुष्य पैदा करते हैं ? मेरे मित्रो, पहले मनुष्य बनिए, तब आप देखेंगे कि सब बाकी चीजें स्वयं आपका अनुसरण करेंगी ।

मित्रो, अपनी चिन्ता हमें स्वयं ही करनी है । इतना तो हम कर ही सकते हैं । क्योंकि दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों । वह है कार्य और हम हैं उसके कारण । इसलिए आओ, हम अपने-आपको पवित्र बनालें । आओ, हम अपने-आपको पूर्ण बना लें ।

—स्वामी विवेकानन्द

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा । Ph. 65426